आमि जे बनलता

बचपन की कौन-सी याद गहरी नहीं होती।

बहुत पीछे छूट गये बचपन की स्मृतियाँ बटोरने लगती हूँ, तो एक साथ न जाने कितने चेहरे, कितनी घटनाएँ, कितनी नदियाँ, समुद्र, कितने ही शहर और ग्रामों की स्मृति, मुझे पीछे खींचने लगती है। कभी जसदर के राजप्रसाद में लीलाबा के साथ बनाये गुड़ियों के घरौंदे, कभी वेरावल के उद्धत जलधि-तरंगों का मत्त नर्तन, कभी राजकोट की उस तंग गली में चीनी के रंगीन पारदर्शी गिलास बेचने वाले अनोखे हँसमुख फेरीवाले की प्रतीक्षा, और कभी अलमोड़ा गिरजे की गुरु-गंभीर इतवारी घंटा-ध्वनि।

अचानक वही टनटन सुनती, मैं अपने कल्पना-लोक में ही उड़ती शिलाँग जा पहुँचती हूँ। ब्रह्मपुत्र के विराट् वक्षस्थल पर हिलता-डुलता स्टीमर मुझे हबीगंज ले जा रहा है। अब शायद उस विचित्र बंकिम ग्राम को भारत-विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान अपनी ओर खींच ले गया है। ऐसी विचित्र बस्ती मैंने फिर अपने जीवन में कभी नहीं देखी। न जाने कब, किस भूकंपी धक्के ने उसे सदा के लिए टेढ़े खेत, पान से झुरमुटों की बनी टेढ़ी-ठिगनी झोपड़ियाँ और टेढ़े खड़े ताड़ के पेड़, वह भी ऐसी मुद्रा में जैसे एक दूसरे से गुँथी खजुराहो की मूर्तियाँ हों। प्रकृति ने इस बस्ती को सौंदर्य-दान अकृपण हस्त से ही किया था, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु विधाता

जैसे कभी सुन्दर चेहरा गढ़कर स्वयं अपने ही क्रूर आघात से, उसे एक पक्षाघाती झटके से सदा के लिए टेढ़ा, विकृत कर देता है, ऐसे ही प्रकृति ने स्वयं उस सुन्दर बस्ती को श्रीहीन कर दिया था।

उसी हबीगंज में, अपनी एक सहपाठिनी के साथ उसके ज़मींदार प्रासाद में दो दिन बिताकर मैं शिलाँग पहुँची। कलकत्ते के विद्यासागर कॉलेज से हाईस्कूल की परीक्षा देकर, मैं अपनी बड़ी बहन के पास शिलाँग गयी थी। वहाँ 'धानखेती' में एक बंगला लेकर मेरी बड़ी बहन बी० ए० की परीक्षा दे रही थीं। बड़े आनन्द और उल्लास के बीच ग्रीष्मावकाश की कुछ छुट्टियाँ वहीं बिता, हम दोनों बहनें घर लौट रही थीं। आज तक न जाने कितनी यात्राएँ कर चुकी हूँ, किन्तु उस यात्रा के आनन्द का स्वाद ही भिन्न था। कभी घने वन-अरण्यों के बीच गुज़रती धड़धड़ाती रेलगाड़ी ठीक ऐसे बल खाने लगती, जैसे केंचुए को किसी तिनके से कोंच दिया हो। पेट की आँतें भी गोल-घूमने लगतीं और बंगाल के नागरदोले में बैठने का आनन्द आ जाता। उधर वन-वनांतर को रँगती हरीतिमा स्वयं ही आकर आँखों में धूप का सुशीतल चश्मा लगा देती, और फिर निरंतर झरझर बरसती जल धारा। लगता किसी कच्ची छत-सा टपकता आकाश हमारे साथ-साथ चला आ रहा है।

हमारा डिब्बा अधिकांशतः बंगाली-असमिया यात्रियों से ही भरा था; इसीसे गाड़ी के चलते ही, उन अपरिचित आँखों की उत्सुकता सहज प्रश्नों से हमें कोंचने लगी—"अजी यह कौन-सी बोली बोल रही हो तुम लोग? हाय माँ, पहाड़ी हो? पर बंगला इतनी साफ़ कैसे बोल लेती हो जी? ओह, बोलपुर में रवि ठाकुर के स्कूल में पढ़ती हो, इसी से। वहाँ तो सुना, साहब-मेम लोग भी एकदम साफ़ वीरभूमी बंगला बोल लेते हैं।"

कभी उनका व्यर्थ कौतूहल मुझे बेहद झुंझला देता, कितना अच्छा लग रहा था प्रकृति का यह पल-पल बदलता रूप। पर सहयात्रियों को प्रश्न पूछे बिना नचैं कहाँ था। वैसे भी, उत्तर मेरी दो बहनें ही दे रही थीं, मैं बड़ी

अशिष्टता से बाहर ही सिर निकाले देखती जा रही थी कि इंजन ने एक लंबी सीटी बजाकर निकट आ रहे किसी बड़े स्टेशन की पूर्व सूचना दी। वह स्टेशन निश्चय ही बड़ा था; क्योंकि रंगीन, लाल-हरी बत्तियों की जगमगाहट में बार-बार मिलतीं, विलग होतीं पटरियों का जाल विस्तृत होता, सिकुड़ता एक विराट प्लेटफ़ार्म पर सिमट गया। गाड़ी रुकी, तो संध्या प्रगल्भ हो चुकी थी।

कभी-कभी सोचती हूँ, जो आनन्द आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, रेल गाड़ी के किसी बड़े स्टेशन पर रुकने में आता था, वह अब क्यों नहीं आता? क्या हम यात्री ही बदल गये हैं, या स्टेशन की बहुरंगी भीड़? मुझे तो आज के इंजन की सीटी में भी वैसी टीस नहीं सुनाई देती। अब उसमें किसी तरुणी बाईजी के ताज़े कंठस्वर की मीठी गूँज नहीं रह गयी है। डीज़ल इंजन का भोंथरा गला तो अब किसी गतयौवना बारवनिता के बैठे गले-सा ही डकार उठता है।

उस दिन इंजन की बड़ी मीठी गूँज के साथ ही गाड़ी रुकी। स्टेशन का आनन्द-मेला मुग्ध नयनों से निहारती मैं स्वयं झकझोरे खाती चली ही थी कि वह आकर सहसा मेरे पास बैठ गयी। एकदम कृशोदरी, सुललिता पतली नाक, बहुत बड़ी आँखें और होंठों की ऐसी विचित्र गढ़न न मैंने पहले कभी देखी थी, न शायद कभी देखूँगी। नीचे का ओंठ मोटा, ऊपर का धनुषाकार मुड़ा एकदम पतला, ठीक जैसे किसी छोटे मुँह की शीशी पर भूल से बड़ा ढकना लग गया हो। बराबर यही लगता कि हँसती जा रही है। वह भी ऐसी हँसी कि जितनी ही बार देखो, उतनी ही बार कलेजा हिम!

"चलो भाई, गाड़ी तो पकड़ ही ली, अब तुम सुनाओ क्या हाल है, कब आयीं?" उसने ऐसी आत्मीयता से मेरा हाथ पकड़ लिया कि मैं भयसे सहमकर उठने लगी।

"अरी, बैठ भी।" वह फिर हँसी और ज़ोर से हाथ खींचकर मुझे ऐसे बैठा दिया कि मैं उसकी गोद ही में गिर पड़ी। "कैसे नख़रे दिखा रही है,

जैसे पहचानती ही न हो। की लो सई, आमि जे बनलता।" (अरी सखी, यह तो मैं हूँ बनलता।)

मैंने भय विह्वल दृष्टि से तीसरी सीट पर बैठी दोनों बहनों को देखा। अपनी ही बचकानी ज़िद से तो मैं दूर उस खिड़की के लोभ से उधर जा बैठी थी। पर तब मैं क्या जानती थी कि यह ख़ूँख्वार सिंहनी आकर मुझे ऐसे दबोच लेगी। वहीं से बड़ी बहन ने मुझे आँखों से इशारा किया—बैठ जा; देखती नहीं पागल है ?

गाड़ी पूरे वेग से भाग रही थी और मेरा हाथ, उसी पगली की वज्र-मुष्टिका में बन्द था। उसके दुबले-पतले हाथ, क्या लोहदण्ड से कुछ कम थे ? लग रहा था, थोड़ी ही देर में मेरी उँगलियों को मसलकर हलुआ बना देगी।

पास ही बैठे एक वृद्ध सज्जन को, शायद मेरा चेहरा देखकर दया आ गयी। डपटकर उन्होंने कहा—'क्यों परेशान कर रही है उसे। छोड़ उसका हाथ।···जाओ माँ, अपनी बहनों के पास जाकर बैठो।"

"अच्छा बूढ़े, मौत आयी है क्या तेरी···?" अपने हाथ की पोटली नीचे पटककर वह जंगली बिल्ली-सी उछली, और छत पर लगी खूँटी पर चिमगादड़-सी लटक गयी। फिर तो कुछ पलों को, मैं ही नहीं, पूरे डिब्बे के यात्री सहमकर जहाँ-के-तहाँ चिपके रह गये। लगता था, सचमुच कोई कामरूप की मायाविनी डाकिनी हमारे डिब्बे में घुस पड़ी है। वह एक बार फिर उछली और डिब्बे में इधर-उधर लगी खूँटियों पर झूलती हुई, शाखामृगी की तरह घूमने लगी। किसी प्राचीन मंदिर की भित्तियों पर अंकित त्रिकोण-धारी यक्षिणी की मूर्ति-सी बनलता ने फिर सबको सहमा दिया। खूँटी पकड़ते ही वह गोल-गोल घूमने लगती और उसके घूमने में भी तेज़ी से चक्कर काट रहे लट्टू की ही सनसनाहट आ जाती।

तभी हम काँपते यात्रियों ने बजरबट्टू-सी घूम रही उस रहस्यमयी की, काठ के लट्टू से एक और समानता पकड़ ली। उसकी एक टाँग लकड़ी

की थी। सूत के डोरे से बाँधकर, कौशलपूर्ण तीव्रता से छोड़ा गया लकड़ी का रंगीन लट्टू जैसे सर्र करता अपनी पतली नोक पर नाचने लगता है, वैसे ही खूँटी पकड़ गोल-गोल चक्कर खाती वह अपनी लकड़ी की टाँग को तेज़ी से नचाती, कलेजा दहला देने वाला अट्टहास करती हुई चीख़ उठती—"ओई लो, आमि जे बनलता।"

गोल-गोल घूमकर स्थिर होते ही, उसने अपनी उसी लकड़ी की टाँग का शब्दवेधी बाण मारा था, उस वृद्ध सज्जन की पीठ पर। उस अचानक आ पड़े पद-प्रहार से बेचारे तिलमिला उठे थे।

"ले बूढ़े, और मुँह लगेगा ? जानता है मैं कौन हूँ ? बनलता सुन्दरी! अरे, चार-चार छोकरों ने आत्महत्या की है बनलता के लिए।"

"ओह कहाँ से घुस आयी डिब्बे में यह, पगली ! घेरून तो गोशाई।" हमारे एक हृष्ट-पुष्ट सहयात्री महा-उत्तेचित होकर बनलता को पकड़ने के लिए बाहें समेटते हुए खड़े हो गये। पर बेचारे एक कदम बढ़े भी नहीं थे कि बनलता की लकड़ी की टाँग ब्रह्मास्त्र बनकर उन्हें धराशायी कर गयी। फिर तो दुबली-पतली, साक्षात् रणचंडी बनी बनलता, फटाफट पद-प्रहार करती, उन्मत तांडव-सा कर उठी। हम तीनों बहनों को छोड़, प्रत्येक यात्री उसके काष्ठपद-प्रहार का प्रसाद पा चुका था।

अब परम तृप्ति से वह मुस्कराती, लटकती ख़तरे की चैन के नीचे खड़ी होकर गाने लगी। कोई चैन खींचने का दुःसाहस करता भी तो कैसे? सहसा संगीत ने उसके क्रोध को साध लिया। गाना भी ऐसा-वैसा नहीं—सधे गले का एकदम पक्का गाना। मीठी ठुमरी के साथ, रेलगाड़ी जैसे टीपबंदी का ठेका लगाती चली जा रही थी : गोरी तोरे नैन बिन काजर कजरारे।

गाने की प्रत्येक चटपटी पंक्ति के दोने के साथ वह किसी कुशल चाट वाले की भाँति मिर्च-मसाले की चुटकियाँ छोड़ती जा रही थी; कभी अपने चंचल कटाक्ष से, और कभी नुकीले चिबुक पर धरी तर्जनी से। सहसा बंकिम ग्रीवा के एक सधे झटके के साथ एकाएक 'फ्यूज' हो गये बिजली के बल्ब की

भाँति पल-भर को मुँदी उस आम की फाँक-सी बड़ी आँख ने उसके पेशे का परिचय दे दिया।

वृद्ध सज्जन ने घृणा से मुँह फेरकर पच्च से वहीं थूक दिया। लुंगी-सी लपेटी साड़ी को अब वह घुटनों तक उठाती, वहीं पर ठुमक रही थी। नाचते-नाचते वह धीरे-धीरे मेरी दोनों बहनों की ओर बढ़ी, और धप्प से उन्हें खिसकाती, बीच में बैठ गयी।

अब आरम्भ हुआ उसका धाराप्रवाह अंग्रेज़ी भाषण। क्षण-भर पूर्व जिसके अश्लील कटाक्ष, मदालस हँसी और पल-भर की मुँदी आँख का घिनौना आमंत्रण यात्रियों के संस्कारी चित्त को घृणा से भर गया था; वे ही यात्री उसकी शुद्ध अंग्रेज़ी सुनकर आँखें फाड़-फाड़कर प्रशंसा से उसे देखने लगते थे। देश तब पराधीन था, शायद इसी से आंग्ल-प्रभुओं की भाषा भी, सुनने वालों को अपने वशीकरण मंत्र से बाँध लेती थी।

"अरे बहन!" वह कह रही थी—"चौबीस परगना के दौरे पर गया था उस बार कूपर साहब, सात ज़िलों का हाकिम, ऊँचा, तगड़ा, गोरा चट, आँखें ऐसी नीली-हरी जैसे तूतिया! मुझसे बोला—बौनी, इस बार दौरे पर तू भी चलेगी मेरे साथ, मचान पर बैठकर तेरा गाना सुना जायेगा। शेर का शिकार भला तेरे बिना कैसा? मुझे "बौनी" कहता था मुँहझौंसा! कहता था बौनी, तेरी संगमरमर की मूर्ति बनवाकर अपने बाप-दादों के कासल में लगाऊँगा। मूर्ति तो नहीं ले गया, टाँग जरूर ले गया मेरी।" एक बार फिर, बनलता की भयावह हँसी सबको सहमा गयी।

"उसी के साथ शेर के शिकार को गयी थी। कहता था, ऐसा शिकार संसार के किसी शिकारी ने आज तक नहीं किया होगा। एक ही गोली से दो शिकार करूँगा आज—उधर आदमख़ोर शेर, इधर आदमख़ोर शेरनी। ख़ूब हँसा था मुँहजला! शेर दहाड़ा, उसने गोली चलायी। एक ही में तड़पकर शेर गिरा और कपूर साहब ने खुशी से उछलकर मुझे बाँहों में भरा, चरमराकर मचान टूटा। साहब तो डाल पकड़कर लटक गया; पर मैं

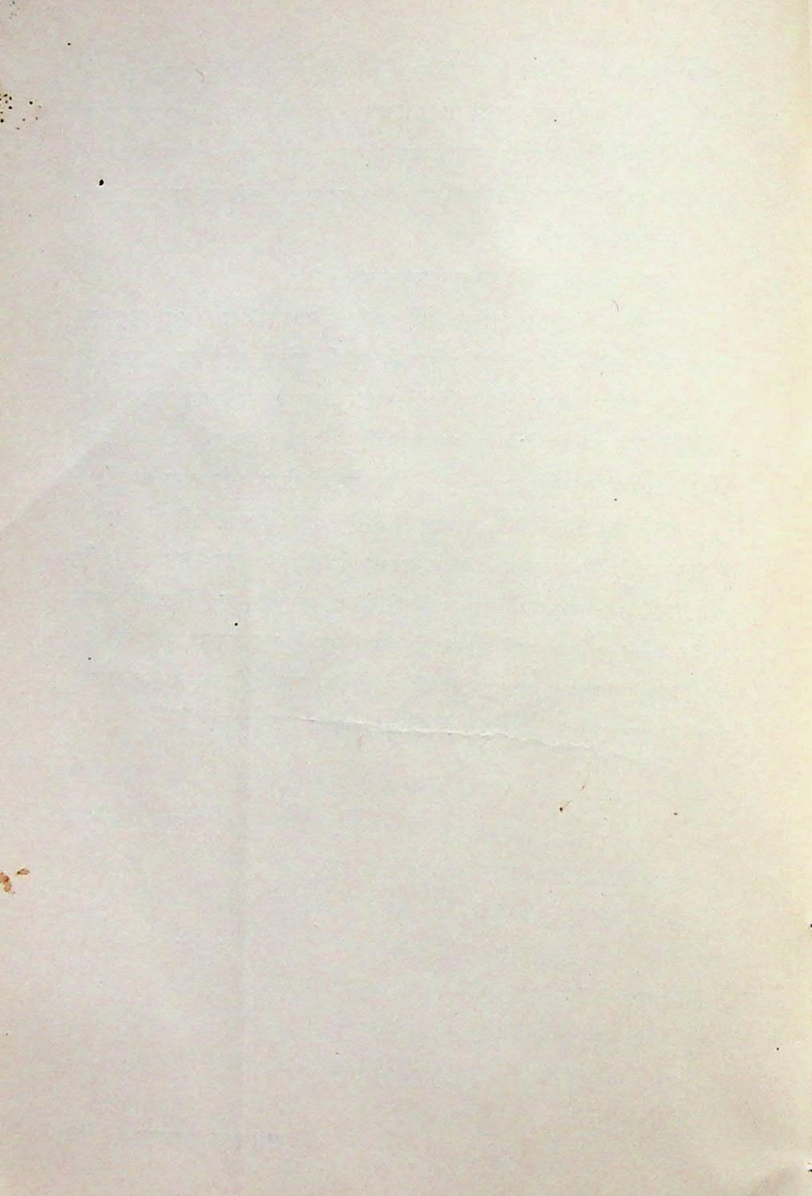
गिरी धमाक-से। गैंग्रीन हुआ टाँग कटी। होश में आयी तो देखा, टाँग ही नहीं, फिरंगी प्रेमी भी चला गया है मेरा। लंगड़ी शेरनी अब आदमखोर नहीं रह गयी है। भाई···अब तो बस गाना गाती है वह···" अपनी लकड़ी की टाँग पर पतली उंगलियों से ठेका देती वह उन दिनों का अत्यन्त लोकप्रिय गीत गा-गाकर झूमने लगी :

"तूमी जो गियाछौ बकुल बिछान पथे।"

लकड़ी की टाँग पर ताल देती लंबी उँगलियाँ, उन बड़ी मदालस अमानवीय आँखों की क्षुधातुरा सिंहनी की-सी दृष्टि, और हवा में उड़ रहे घने काले केश ! गीत की दूसरी पंक्ति बार-बार दुहराती वह न जाने क्यों मेरी ही ओर देखकर ऐसे मुस्करा रही थी, जैसे प्रश्न पूछ रही हो—"आमि शे की हाय फेले जावा माला ?" (हाय, मैं क्या फेंकी गयी माला ही हूँ ?)

इतने वर्ष बीत गये हैं, न जाने कितनी रेलगाड़ियों में चढ़ी हूँ, कितनी से उतरी हूँ, किन्तु असम के गहन अरण्य को चीरती उस रेलगाड़ी में बैठकर गाती उस रहस्यमयी स्वरलय-नटिनी के उस टीस-भरे गीत की प्रश्न-मुखर पंक्ति आज भी मेरे जीवन की सबसे गहरी याद बनकर रह गयी है। कभी-कभी लगता है, वह लकड़ी की टाँग पर ताल देती, गा-गाकर मुझसे अब भी पूछ रही है—"आमि शे की हाय फेले जावा माला ?"

●



दाना मियाँ

क़द्दावर पठान की सतर देह, पके सन-से बाल, क़रीने से कतरी-छँटी सफ़ेद दाढ़ी और चेहरे पर एक अविचल गाम्भीर्य, यही थे दाना मियाँ। बच्चे देखते, तो ख़ुशी से बढ़कर घेर लेते। बड़ों की उत्सुक दृष्टि उनके कुली की पीठ पर लदे गट्ठर की चादर को चीरने-फाड़ने लगती।

"क्या-क्या लाए हैं आज आप ?" बच्चे पूछते।

"सबर···सबर···" दाना मियाँ दोनों हाथ फैला-फैलाकर ऐसे अन्दाज़ से मुसकराकर कहते कि उत्सुकता और बढ़ जाती।

गट्ठर उतरता और दाना मियाँ जेब से तम्बाकू की डिबिया निकालकर तम्बाकू खाते। फिर छोटा-सा बटेरी बटुआ खुलता, उसमें से छालियाँ निकलतीं। बच्चों की अधीरता और बढ़ती।

"खोलिए न दाना मियाँ !" बच्चे मचलते और सधे हाथों से दाना गठरी की गाँठ खोलते, जैसे कोई ख्याति प्राप्त सर्जन पेट चीरकर 'एपैंडिक्स' निकाल रहा हो। "वाह वाह ! यह देखो क्या बढ़िया 'कामिक' है···यह रही 'टिटबिट'···यह है 'वेस्टर्नर'···और हुजूर, यह क्या आला किताब साहब बहादुर के लिए···" कहते हुए वे धूल-गर्द से पीली पड़ी दस साल पुरानी 'डाइजेस्ट' निकालकर झाड़-पोंछकर, ऐसे यत्न से हथेली पर टिकाकर पेश करते, जैसे खान का निकाला हुआ खरा सोना हो।

"बहुत पुराना है दाना, सन् ५२ का"...हम देखकर कहते, तो वे कत्थे से लथपथ बत्तीसी दिखाकर हमारे अज्ञान पर हँस पड़ते—"वाह साहब ! हमारे 'बरौन' साहब कहते थे कि पुरानी किताब में पुरानी 'बरंडी' का मज़ा आता है।" लिहाज़ा सन् ५२ की पुरानी 'डाइजेस्ट' ख़रीद ली जाती, छः 'कामिक', दो 'लाइफ़' और चार 'पोस्ट' भी।

कुल एक रुपये बारह आने लेकर दाना बड़ा लम्बा सलाम झुकाकर ऐसे झूमते चले जाते, जैसे हम पर बहुत बड़ा एहसान कर गए हों। "ऐसी उम्दा किताबें मिट्टी के मोल दे गया हूँ सरकार..." वे कहते। पाँचवें-छठे दिन उन्हीं पुस्तकों को फिर आधे दामों में गठरी बाँधकर कुछ नयी किताबें दे जाते। यही उनका धन्धा था। जब चले जाते, तो कभी लोग बड़बड़ाते—"अजब बुद्धू बने ! चित भी मेरी, पट भी मेरी—किताबें भी ले गया, पैसे भी।"

एक दिन मैंने यही बात दाना से कह दी, तो चट से बोले—"गुस्ताख़ी माफ़ हो हुज़ूर, पर इन पढ़े-लिखों से तो हम बिनपढ़ भले। इत्ती-सी बात आपके दिमाग़ में नहीं आयी। आप लोग सनीमे जाते हैं। पैसा ख़र्च कर, टिकिट ख़रीदकर तमाशा देखते हैं। कोई गाँठ बाँधकर तिजोरी में तो नहीं रखते उस तमाशे को। ऐसा ही किताबों का इल्म है—पढ़ा और दिमाग़ की तिजोरी में भर लिया मेम साहब ! जिनके पास जितनी ज्यादा किताबें देखें, समझ लें सरकार कि दिमाग़ की तिजोरी उतनी ही ख़ाली है।" उनके कहने का अनूठा ढंग हमें कुछ ऐसा पसंद आया कि हमने दिमाग़ी तिजोरी को भरना ही श्रेयस्कर समझा।

दाना मियाँ को नैनीताल में तीस बरस हो गए थे। नैनीताल आए थे नौकरी की तलाश में। अंग्रेज़ों का ज़माना था; खानसामा या बैरागीरी मिलना आसान था। पर दाना को था शेर-ओ-शायरी से शौक। आज़ाद तबीयत पायी थी। जवानी कनकौवे उड़ाकर बिता दी थी। अब नौकरी करने की तबीयत नहीं थी। एक दिन देखा, एक कबाड़ी किसी हलवाई से

मोल-तोलकर कुछ अंग्रेज़ी 'पोस्ट' व 'लाइफ़' बेच रहा है।

"आय हाय ! हमने सोचा हुज़ूर !" और दाना मियाँ की पानीदार आँखों में जैसे वह दिन तैर उठता---"ऐसी आला तस्वीरों-भरी किताबें और इनमें बँधेगी जलेबी और बालूशाइयाँ ! हमसे नहीं रहा गया। कुछ पैसे जेब में थे, कुछ कर्ज़ लिए और किताबें समेट लीं। बस वह दिन और आज, किताबें ही हमारी ज़िन्दगी बन गयीं।"

दाना मियाँ अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। पर अंग्रेज़ी पुस्तकों को बेचते-ख़रीदते उन्हें समझने भी लगे थे। "अब कहाँ हैं वे किताबें और कहाँ हैं वे ख़रीदने वाले ! एक ज़माना था, जब लोग गाल्सवर्दी और टालस्टाय माँगते थे। अब माँगते हैं पीटर चैनी !" दाना उदास हो जाते और पादरी 'बरौन' को याद करते, जिन्होंने दाना मियाँ के पास मोपासाँ की एक फटी-सी किताब देखकर पाँच का नोट थमा दिया था—"एक रुपया किताब का और चार तुम्हारा बख़्शीश।"

"और अब देखिये," मोपासाँ की एक नयी-सी पुस्तक दिखाकर वे बोले—"दस दिन से पड़ी है, कोई पूछता ही नहीं। सनीमे की किताब हो, फिर देखिये ! लोग कैसे टूट पड़ते हैं !"

शनिवार को उनकी अच्छी-ख़ासी बिक्री हो जाती थी। "मेट", वे कुली से कहते—"इंशाअल्ला, आज तुमको गोश्त खिलायेगा" फटे चिथड़ों से जुएँ बीनता उनका पुराना कुली बहादुर मुसकरा देता। शनिवार को दाना अंग्रेज़ी स्कूलों की फेरी लगाते। उनकी दृष्टि में हमारी सरकार ने एक ही काम बुद्धिमानी का किया था और वह था अंग्रेज़ी स्कूलों की सत्ता क़ायम रखना। "ये न होते मेम साहब तो रोटियों के लाले पड़ जाते—नकटा जिया बुरा हवाल होता। शनीचर को इन स्कूलों की फेरी लगायी और दो-चार दिन मौज कर लो। अब अंग्रेज़ 'नन' हैं। न मोल न तोल, खरी चीज़ देखी तो खरे दाम थमा दिये—मिनटों में सौदा हो गया। अब हिन्दुस्तानी ग्राहक हैं, बुरा मत मानियेगा हुज़ूर, ऐसे मोल-तोल करेगा कि कान

के पर्दे फट जायेंगे—यह पन्ना फटा है, जिल्द पुरानी है, हल्दी के दाग़ लगे हैं—गोया किताब नहीं, मछली खरीद रहे हैं। ग़ुस्सा पी लेता हूँ। दूकानदार वही है, जिसने ग्राहक की धौंस सह ली।" दाना मियाँ मुसकराकर कहते और एक फटी-सी किताब का भी तगड़ा मोल चुकाकर हम ख़रीद लेते; बार-बार दिल को यही दिलासा देते कि यह मछली नहीं, किताब ख़रीदी है।

कई वर्षों से आते-जाते दाना हमारे परिवार में ऐसे घुल-मिल गए थे कि दो-चार दिन भी न आते, तो ऐसा लगता—अर्से से नहीं आए हैं। एक बार ऐसे ही एक हफ़्ते तक नहीं आए। जब आए, तो सबने घेर लिया—"कहाँ गए थे? क्या-क्या नयी किताबें लाए हैं?" सबर...सबर...कहकर उन्होंने रहस्य की चादर फैला दी। तभी बच्चों ने देखा कि दाना बड़ी नई डिज़ाइन का नया स्वेटर पहने हैं—सधे हाथों से बुनी एकदम नई डिज़ाइन की जैकेट!

"वाह वाह! किसने बुन दिया इतना बढ़िया?" मैंने पूछा। आश्चर्य भी हुआ; क्योंकि कई पूर्व चेष्टाओं के बावजूद हम दाना के परिवार के विषय में बहुत थोड़ी जानकारी ही प्राप्त कर पाए थे।

"हमारी फ्रेंड ने बुन दिया," कहकर दाना ऐसे अन्दाज़ से मुसकराये कि "वह फ्रैंड कौन है, कहाँ रहती है?" आदि प्रश्नों की झड़ी लग गयी। "बस फ्रैंड है" कहकर कुछ शरमाकर उन्होंने 'टॉपिक' बदल दिया—"यह देखिये हुज़ूर, बेकन और रस्किन की वह लाजवाब किताब लाया हूँ कि तबीयत फड़क उठेगी। पर नैनीताल में अब इनका मार्केट नहीं रहा..." फिर उन्होंने अपना पुराना क़िस्सा शुरू कर दिया। पादरी 'बरौन' के साथ-साथ ही बेकन और रस्किन को पढ़नेवालों के मातम का मर्सिया पढ़ने से दाना को रोकना ही पड़ा, दो किताबें ख़रीदकर। पर दाना की रहस्यमयी 'फ्रैंड' की जिज्ञासा गुदगुदाती रही—क्या जाने पुस्तकों की डोर से बँधी कोई पर्वतीय सुन्दरी या फिर टेलीफ़ोन ऐक्सचेंज की कोई एंग्लो-इंडियन,

और या स्वयं दाना की कोई कल्पना-लोक की उपज।

राजनीति की बहस छिड़ती, तो दाना सजग हो उठते। "दुनिया में एक ही क़ाबिल आदमी है—और वह है पण्डित नेहरू।" वे कहते—"जब तक है, तब तक अल्ला-अल्ला और आगे हिन्दुस्तान के मुसलमानों का ख़ुदा हाफ़िज़। जितना दर्द पण्डित जी को है, उतना क्या और किसी को होगा?' नेहरू उनके 'हीरो' थे।

एक बार दो वर्ष पहले पण्डित जी नैनीताल आए। फ़्लैट में भाषण था। दूर-दूर के पहाड़ों से आती चीटियों-सी जन-पंक्ति ने क्षण-भर में फ़्लैट को भर दिया। इधर-उधर देखा, कहीं दाना मियाँ नज़र नहीं आए। दूसरे दिन किताबों की फेरी लगाने आए, तो हमने कहा—"आप कल दीखे नहीं?"

चेहरा लटक गया, डूबी आवाज़ में बोले—"बदक़िस्मती ही थी हमारी।"

"क्यों, क्या बीमार थे?" हमने पूछा।

"अरे साहब! बीमार क्या, क़ब्र से भी चले आते", वे बोले।

"तो फिर?" हमसे नहीं रहा गया।

"धोबी को शेरवानी दी थी कि खड़े घाट धोकर ले आना, कल पंडित जी का लेक्चर सुनने जायेंगे। पर धोबी और दर्ज़ी भला कब अपनी ज़बान के सच्चे होते हैं! मन मारकर कोठरी में पड़े रोते रहे।"

"हद है, आप···" हमने कह ही दिया—"शेरवानी न थी तो न ही सही, ऐसे ही चले जाते। पंडितजी कोई रोज़-रोज़ थोड़े ही आते हैं।"

"वाह साहब, वाह!" दाना ऐसे बिगड़ खड़े हुए, जैसे मैंने उन्हें भरी महफ़िल में नंगा ही चले जाने को कह दिया हो। "गोया पंडितजी के सामने हम इस गंदी-सी तमनिया और कुर्ते में चले जाते!" लाहौल पढ़कर दाना मियाँ ने हमें फटकार दिया

इसी मार्च की बात है। कई दिनों से दाना नहीं दीखे थे। चारों ओर

बर्फ़ की मोटी चादर जम गयी थी। पर बर्फ़, वर्षा और तूफ़ान से आज तक दाना ने कभी हार नहीं मानी थी। उनके साप्ताहिक फेरे में ऐसा ढील-ढिलाव कभी नहीं हुआ था। हम उनकी ईद-बकरीद भले ही भूल जायें, हमारी होली-दीवाली उन्हें कभी नहीं भूली। हर त्यौहार पर अपने दोनों लम्बे-लम्बे पठानी हाथ हिलाते हुए वे दूर से ही चिल्लाते—"मुबारक मुबारक' होली की गुजिया, अबीर-गुलाल मुबारक !" सफ़ेद दाढ़ी पर उनके हिन्दू प्रशंसकों का छिड़का अबीर-गुलाल और टोपी पर रंग के छींटे! इस बार होली आकर चली भी गयी पर दाना नहीं आए, तो कुछ खटका हुआ। नौकर भेजा, तो पता लगा कि फेरी पर गए हैं। तीसरे पहर देखा—दाना मियाँ चले आ रहे हैं। पर ये दाना नहीं, जैसे उनकी छाया है। काला चेहरा, झुकी हुई कमर और आँखों के नीचे स्याह लकीरें। "यह क्या, ऐसे में क्यों फेरी लगाने आए ?आप" हमने कहा।

"अब क्या करें, आदत से लाचार हैं। आज आठ दिन से बुख़ार ने पटक दिया है। सोचा आज सबसे दुआ-सलाम कर आयें; फिर न जाने नाव किस घाट लगेगी।" उनकी सदा ख़ुशी और उत्साह से चमकती रहनेवाली बड़ी-बड़ी आँखें एकदम आँसुओं से भर आयीं।

"अरे, आप ठीक हो जायेंगे। बुख़ार किसे नहीं आता ! बैठिए, मैं आपकी किताबें ले आती हूँ—कहकर मैंने दिलासा दिया, कुछ किताबें ख़रीदीं और कुछ लौटायीं। क्या पता था, यह आख़िरी लेन-देन होगा।

पर दाना जान गए थे कि अब आना नहीं होगा। बच्चों के लिए रुके रहे। वे स्कूल से लौटकर आए, तो एक बार फिर पुराने दाना बन गये। पुराने मज़ाक दोहराये गये, नयी किताबें फैलायीं और नयी आला-आला किताबें लाने का वादा कर दुआएँ देकर चले गये।

दूसरे दिन बहुत बर्फ़ गिरी। तीसरे दिन और चौथे दिन बर्फ़ फाँदते हम गए, तो दाना के दरवाज़े पर ताला पड़ा था। उनके बेटी-दामाद उन्हें घर ले गए थे। बहुत दिन बाद पता लगा कि दाना नहीं रहे। उनकी किताबें

अभी भी उनकी याद दिलाती हैं और दिल भर आता है।

तल्लीताल के बस-स्टैंड के बायीं ओर एक बेंच पड़ी है, जिस पर होटलों के गाइड, डाँडी के गढ़वाली कुली नीड़ पर चहकते पक्षियों का-सा कूजन करते हैं। रोडवेज़ की बसें अभी भी यंत्रवत् आ-आकर यथास्थान खड़ी हो जाती हैं। तिब्बती लामा बैंच के पास अपनी मैली चादर फैलाकर सीटी, रंगीन मनकों की माला और झुमझुमों का बाजार लगाकर बेचने लगते हैं। इस तरह ब्रैंच के तीनों कोने आबाद हो जाते हैं। वीरान रहता है चौथा कोना। और वह क्या अब कभी आबाद होगा ? इसी कोने पर चादर फैला-कर कभी बैठते थे दाना। लम्बी-पतली, मोटी किताबें क़रीने से सजाकर वे इस अकड़ से बैठे रहते, जैसे पुरानी किताबें नहीं, मोती बेच रहे हों।

उस ख़ाली पड़ी हुई ज़मीन के बदनसीब टुकड़े को देखकर जी में आता है—उनके मातम में एक मर्सिया पढ़ डालें। और दिल-ही-दिल में कहते हैं—जब तक यह छलाछल छलकता ताल है, यह बैंच है, इसके तीन आबाद और एक वीरान टुकड़ा है, दाना ! तुम्हें नैनीताल कभी भूलेगा नहीं—ख़ुदा हाफ़िज़ !

तुइ जे पुरुष मानुष रे !



पूज्य गांधीजी का जन्मोत्सव-समारोह शन्तिनिकेतन में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता। प्रार्थना-सभा: प्राय:'आम्रकुंज' में होती। एक बार, गुरुदेव ने इसी सभा में कहा था—"आज महात्मा गांधी के जन्मदिन के समारोह में, हम आश्रमवासी आनन्दोत्सव करेंगे। मैं आरम्भ के स्वर को पकड़ना चाहता हूँ। आज के उत्सव में, जिनको लेकर हम आनन्द मना रहे हैं, उनका स्थान कहाँ है ? उनकी विशिष्टता कहाँ है ? जिस दृढ़ शक्ति के प्रभाव ने गांधी जी से समस्त भारतवर्ष को सचेतन बना दिया है, वह प्रचंड है। समस्त देश की समूची छाती पर पड़े जड़ता के भारी पत्थर को, उस शक्ति ने हिला दिया है।"

गांधीजी के अनशन के समय भी, समस्त आश्रम में उदासी और चिंता की लहर दौड़ गयी थी। आश्रमवासियों को एकत्रित कर गुरुदेव ने प्रार्थना सभा की थी—"जय हो उस तपस्वी की जो इस समय मौत को सामने लेकर बैठे हैं ! भगवान् को हृदय में बैठा कर, समस्त हृदय के प्रेम को तपा-कर, जला कर। तुम लोग जयध्वनि करो उनकी, जिससे तुम्हारा कंठ-स्वर उनके आसन के पास पहुँच सके। कहो—तुमको ग्रहण कर लिया है, तुम्हारे सत्य को स्वीकार कर लिया है। वह जिस भाषा में कह रहे हैं, वह कानों के सुनने की नहीं है, वह है प्राणों के सुनने की। मेरी भाषा में ज़ोर कहाँ है !

वही भाषा मनुष्य की चरम भाषा है, जो अवश्य ही तुम्हारे प्राणों में भी पहुँच रही है।" बोलते-बोलते गुरुदेव का स्वर काँपने लगा था, और फिर जब सन् १९४० के फ़रवरी मास में बापू आश्रम में आये, तो उत्सवों की बाढ़ सी आ गयी थी। साथ में बा भी पधारी थीं—जिस भाषा का उल्लेख, गुरुदेव ने अपने भाषण में किया था, वह प्रत्येक आश्रमवासी के हृदय तक पहुँच चुकी थी। सन् १९४२ के आन्दोलन में आश्रम के ही एक नन्हें शहीद ने अपने प्राणों की बलि देकर, प्रत्यक्ष प्रमाण दे दिया था कि उसने आश्रम-गुरु की वह भाषा सचमुच ही समझ ली थी। आज तक कम से कम मुझे तो उस नन्हें शहीद का कहीं उल्लेख नहीं दिखा—किन्तु, उसका बलिदान क्या खुदीराम, भगतसिंह, आज़ाद से कुछ कम था ?

ध्रुव कुंडू, दस-बारह वर्ष का हँसमुख बालक, आश्रम के शिशुभवन का छात्र था। खद्दर का कुर्त्ता और और खद्दर की ही हाफ़पैंट, छोटे-छोटे 'क्रूकट' में कटे घुंघराले बाल और पूर्णिया जिले में जन्म से ही रहने के कारण, बंगला का कुछ अटपटा उच्चारण। ध्रुव के पिता डॉ० कुंडू स्वयं कांग्रेस के सदस्य थे, सरल से गम्भीर व्यक्ति ! प्रायः ही वे अपनी पुत्री शान्तिलता से मिलने हमारे छात्रावास भी आते। मातृहीन ध्रुव पर, उनका स्वाभाविक स्नेह था, वे जाते तो प्रायः ही पाँच का एक नोट हाथ में हिलाता वह हमारे छात्रावास भागा चला आता—'जानो दीदी, बाबा दिये गैछे !' जानती हो दीदी बाबा दे गये हैं—

शान्ति मेरी मित्र थी, इसी से वह मुझे भी दीदी कहता था। फिर वह मेरे पास बैठकर बताता वह इन पाँच रुपयों का क्या-क्या लेगा, काजू, लौजेंज़ और टॉफ़ी—चनाचूर खाओगी दीदी, तुम्हारे लिए भी ला दूँगा—उसकी, वे काँच की गोलियों सी चमकती आँखें, मुझे आज भी याद हो आती हैं। प्रायः ही उसे बड़ी देर तक हमारे साथ बैठ गप्पें मारते देख, शांति बड़ी बहन के प्रभुत्व से उसे डाँट देती—जाता क्यों नहीं रे, क्या रात भी

यहीं रहेगा ? देखता नहीं प्रार्थना का घंटा बजते ही वाला है—और वह बड़ी ही विवश करुण दृष्टि से हमारी ओर देख, उठ जाता। एक दिन वह ऐसे ही आँखें पोंछता आया—'दीदी हैं ?' उसने रूँधे गले से पूछा—

"क्यों, क्या हो गया रे, रो क्यों रहा है ?" मैंने पूछा तो उसने अपना घुटना दिखा दिया। किसी लड़के से झगड़ा हुआ और उसने ढकेल दिया, दीदी से कह उसे पिटवाऊँगा—वह सिसकने लगा और शांति भी उसकी आवाज़ सुन कर नीचे उतर आयी। चोट साधारण थी किन्तु हृदय की चोट गहरी थी, "मैं सच कहता हूँ दीदी, मैंने कुछ भी नहीं किया, उसने मेरी गोली छीन ली और मुझे ढकेल दिया—"

"आहा रे, गनसा आमार ! हाथ नेड़े नेड़े नाड़ू ने बे, मार खेयेछेन अकारणे मारते जानेनना, रोज तो ऐई होच्छे"—शांति ने उसे और डपट दिया—"आहा रे गणेश मेरे, बस हाथ हिला-हिला कर लड्डू खाना जानते हो। बिना वजह पिट गये फिर भी पीटना नहीं सीख सके,, यही तो होता है रोज—"

सचमुच ही वह शरमीला, शांत बालक, किसी से झगड़ना तो दूर, ज़ोर से बोलना भी नहीं जनता था। मैंने ही उसका घुटना धो-पोंछकर पट्टी बाँध दी, शांति ने उसका हाथ-मुँह धुला कर बाल बनाये फिर कहा—

"—जा तो एबारे, अन्धकार होयेछे मेयेदेर मत कांदबी न बुझली ?"
"जा तो अब, अन्धेरा हो गया, लड़कियों की तरह रोना मत, समझा—"

ध्रुव ने एक बार हम दोनों की ओर देखा, शायद कहना चाहता था, जैसा कि वह प्राय: ही विदा के उन कठिन क्षणों में कहा करता था—"किचन तक पहुँचा दोगी दीदी, डर लगता है—"

"डर किसका रे ?" शांति हँस कर पूछती।

"तक्खौक, उनी जे डाकेन," भय से उसका चिकना चेहरा, नवजात शिशु सा ही स्निग्ध लगने लगता—'तक्षक' वह जो बुलाने लगते हैं, सचमुच ही तक्षक की उस विचित्र ध्वनि से, कई बार हमारे कलेजे भी दहल जाते थे।

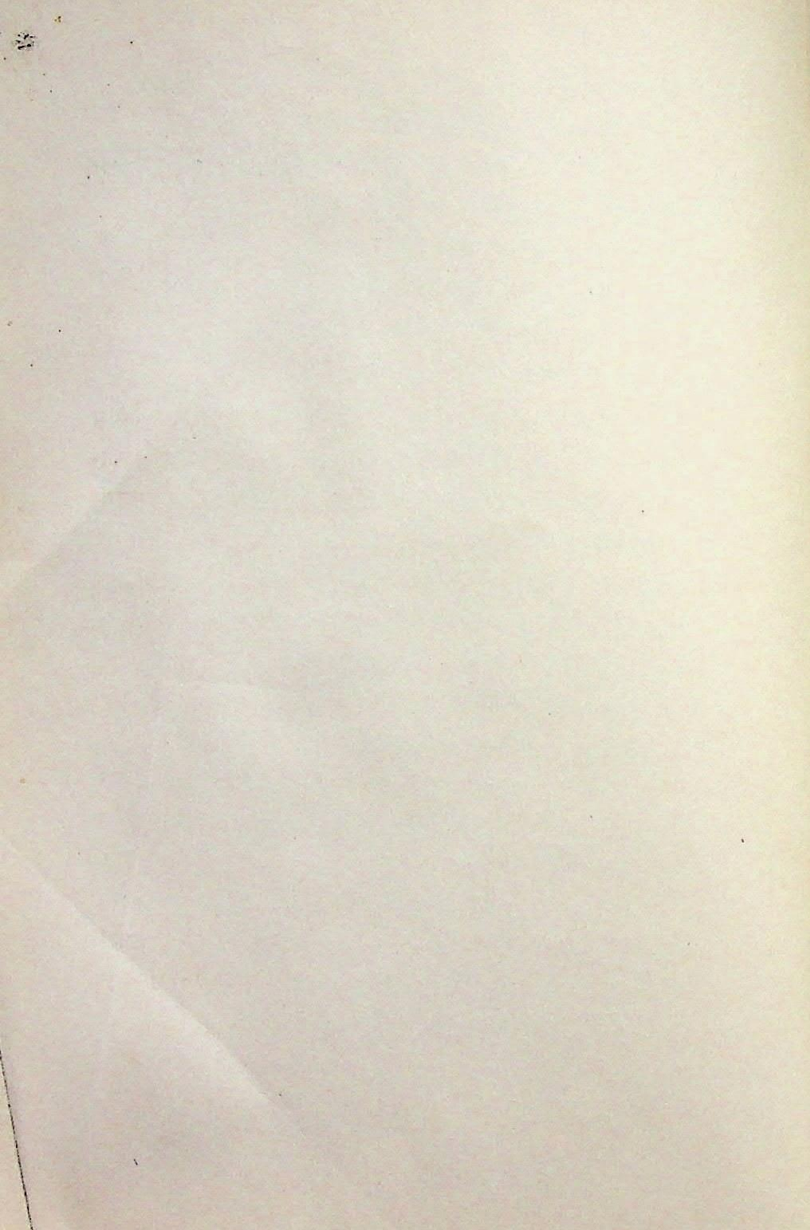
"ना, जा भय किसेर, तुई जे पुरुष मानुष" मैंने एक दिन कह दिया तो दस वर्ष का वह नन्हा दर्पित वीर, बालिश्त भर की छाती ताने, सचमुच ही 'पुरुष मानुष' बना शिशुभवन की ओर चल पड़ा था। मैं परीक्षा देकर घर जाने लगी तो वह न जाने कहाँ से आंधी की भाँति आकर, मुझे एक गुड़ी-मुड़ी सी पुड़िया थमा कर बिना कुछ कहे भाग गया था। मैं यदि जानती, कि मेरा वह नन्हा उपासक, इतनी जल्दी मुझे छोड़ कर चला जायेगा तो निश्चय ही उस मिट्टी के कृष्णनगरी तोते की चोंच, सोने में मढ़ा कर सहेज देती। पुड़िया में था—एक काली मिट्टी का बना छोटा सा तोता, हमारी क्षणिक मैत्री का एक सरस स्मृति-चिह्न !

फिर उन्हीं छुट्टियों में सुना वह दुखद समाचार ! पूर्णिया ज़िले के काठियार का नन्हा ध्रुव कुंडू, हाथ में तिरंगा लिये जिस जुलूस का अगुआ बना, नन्हीं छाती फुलाये जा रहा था, उसी पर पुलिस की गोली चली और उस बर्बर गोलीकांड का पहला शहीद बना ध्रुव कुंडू,—वही ध्रुव कुंडू, जिसकी सामान्य सी चोट भी, कभी जिसे रुला देती थी, अंधेरा होते ही जाने का आदेश पाकर जो अपनी गोल-गोल आँखें भय से विस्फारित कर, मेरी अंगुली कस कर पकड़ कहता था—'तबखोक, उनी जे डाकेन'।

'तुई जे पुरुषमानूष रे' तू तो पुरुष है रे—भय कैसा—आज वह अपनी खोखली हँसी इतने वर्षों में भी, मैं स्पष्ट सुन पाती हूँ—

बालिश्त भर की छाती फुलाये, क्या वह सचमूच ही 'पुरुष मानुष' बना नहीं चला गया ?

कीर्ति-स्तम्भ



आज से तीस वर्ष पूर्व, नैनीताल में नन्दादेवी का डोला, बड़ी धूम से उठा करता था। मल्लीताल के छोटे-से बाज़ार में, न उन दिनों आज की-सी चमक-दमक थी न नियौन बत्तियों की जगमगाहट। फिर भी नन्दाष्टमी के दिन, केले के खाम लिए गाते-नाचते ग्रामीणों के बीच, बुरुंश और गेंदे के गजरों से लदे महिष, दूल्हों की तरह झूमते निकल जाते तो पहाड़ी ढालू छतों पर रंगीन पिछौड़ों की शत-शत यवनिकाएँ एक साथ ऊपर उठ जातीं। डोला देखने को बैठी चन्द्रमुखियों के उल्लसित चेहरे पिटे सोने से दमक उठते। ग्रामीण बाँकों की टोलियाँ वहीं घेरा बना, झोड़े की मधुर मुरकियों के बीच अपने जिस आशुकवित्व का परिचय दिया करते थे, उसके लिए अब कभी-कभी कलेजे में हूक-सी उठती है। लगता है आज़ादी के बाद, हमने यदि कुछ अंश में कुछ पाया भी हैं तो खोया है उससे अधिक। हमारी संस्कृति धीरे-धीरे हमारी मुट्ठियों से निकलती जा रही है और पराई संस्कृति के प्रति हमारी निष्ठा, हमारा मोह, हमारी ध्येय भावना को शिथिल करता जा रहा है। अतीत में हमारी सर्वोच्च निष्ठा धर्म के प्रति थी, इसीसे हमारे पारम्परिक धर्मानुष्ठानों में, हमारी संस्कृति भी अपने स्वाभाविक रूप में जीवंत थी। यह सत्य है कि बुद्धि एक प्रबल शक्ति है, किन्तु यह शक्ति भी अपने समाज के परम्परागत रीतिरिवाजों का सम्पूर्ण रूप से खण्डन कर उन्हें नेस्तनाबूद नहीं कर सकती। हमारी संस्कृति बनी रहे, अतीत के प्रति

हमारी निष्ठा शिथिल न हो, इसके लिए आवश्यक है सदियों से प्रचलित हमारी ये प्रथा-संस्थाएँ बनी रहें। किन्तु, धीरे-धीरे इन उत्सवों में भी अब, न उत्साह रहा है न वह आकर्षण ! हाथ में ट्रांज़िस्टर लिये ग्रामीणों की टोली अब न वह मीठे झोड़े गाती है न चांचरी! स्त्रियाँ अब सभ्य शिष्ट पर्दों की ओट से डोला देखती हैं, छतों पर उनके रूप की फुलझड़ी गायकों की टोली को नहीं गुद-गुदा पाती। महिषों की भीड़ अब चमकीले तेल लगे सींग घुमाती झूमती-झामती नहीं निकलती, कुमायूँ का ग्रामीण अब पूर्ण रूप से सभ्य हो चुका है, देवी यदि भैंसे की बलि न देने से अप्रसन्न होती हैं तो हुआ करें। वह मेले में घूमघाम, अब पहले की भांति तेल की जलेबियाँ नहीं खाता, वह अब खाता है छोले भटूरे। झोड़े, चाँचरी, हुड़का में अब भला क्या रखा है ? ट्रांज़िस्टर खोलते ही तो लता कभी भी कानों में रसवृष्टि कर सकती है फिर भला वह दुनाली पहाड़ी मुरली फूँकने में साँस क्यों फुलाये !

शायद मैं ही मूर्ख हूँ ! मुझे आज भी उन विस्मृति लठ ग्रामीणों की गायकी भुलाये नहीं भूलती। कुछ दिन पूर्व आकाशवाणी में लोकसंगीत का ऑडिशन लेने गयी तो पहली बार ऐसा लगा कि कुमायूँ की संस्कृति एकदम ही पकड़ से नीचे खिसक गयी है। कितने टेप सुने, कितने गायक गायिकाओं के लोकगीत, किन्तु लोकगीतों को अधुनिक बनाने का यह उनका कैसा बचपना था ! कहाँ गयी दुर्गा और तिलक कामोद की वे सुरम्य पहाड़ी धुनें और पहाड़ी कंठ की वह टप्पे की सी दक्ष कारीगरी !

मेले के दिन तो उन ग्रामीण गायकों की कल्पना, जैसे स्वयं वाग्देवी आकर सँवार जाती थी—

'दो मणिया तौली
छाजा बटी झन चयै
उन छूटी रौली !

अरी सुन्दरी, ऐसे छत से नीचे मत देख, कहीं गिर पड़ेगी ! या

'शकुनी कमीज वे

कल्ज गाड़ी त्वीकै दीनूं
ल्यो तरानै ल्ही जैं !'

अपनी इस प्रिय कमीज के बीच से कलेजा चीर तुझे दे रहा हूँ, ले मेरे इस लहू टपकाते कलेजे को ले जा !

कभी-कभी वह कवित्व पूर्ण आत्मनिवेदन, अश्लीलता की परिधि को छलांग लगाकर लांघ जाता, इसीसे हमें छत पर बैठ, डोला देखने की अनुमति नहीं मिलती। कब हमारा ही नाम डालकर झोड़ा बना डालें, कुछ ठीक है इनका ! ताऊ के मकान की लाल, पीली, नीली कांच की बहुरंगी बन्द-खिड़कियों से ही चेहरा सटाकर हम बैठ जातीं। उसी लाल काँच की रक्तिम लैंस से मैंने उसे पहले-पहल देखा था। वह डोले के आगे-आगे नाचती चली जा रही थी। उन दिनों, उस किशोरी नृत्यांगना के असामान्य रूप-लावण्य की नैनीताल में विशेष रूप से चर्चा थी। नैनादेवी की मधुर प्रशस्ति के बीच भी उसके उपासकों की टोली, तिलका के रूप यौवन की मीठी प्रशंसा करने में नहीं चूकते !

'नैनीताला नन्दा देवी
सोरै की भगवती—
तिलका तेरी लम्बी लटी
पुन्यू कसी चंदा
तौ घुंघटी झन टिपियै
सूर्ज होलो मंदा।'

'अरी तिलका, धन्य तेरी लम्बी वेणी, और पूर्णिमा के चन्द्र-सा तेरा मुखड़ा। अरी कहीं भूले से घघूंट मत उठा लेना। सूर्य का प्रकाश मंद पड़ जायेगा।' तिलका वास्तव में ही पंचदशी की पूर्ण विकसित धौत चन्द्रिका थी। अपनी नाज़ुक बच्ची की सी बाँहों को किसी संगमरमर की मस्जिदी मीनारों की भाँति सर के ऊपर उठा, वह अंगुलियों से अंगुलियाँ बाँध लेती फिर पेशेवर अंदाज़ से उन्हें अपने नुकीले तेवर से सँवारती फिर तितली-सी

गोल-गोल घूम जाती। तीन-चार चक्कर घूम, वह सहसा वहीं बैठकर हाँफने लगती। मुझे उसका पीला बीमार-सा चेहरा देखकर न जाने क्यों ऐसा लगने लगता कि वह अब उठकर नाची तो शर्तिया बेहोश होकर गिर पड़ेगी। किन्तु सहसा अशिष्ट भीड़ में, अधैर्य की अश्लील सीटियाँ बजने लगतीं—

नाचो नाचो तिलका, तुम्हारा नाच देखने ही तो हम अल्मोड़ा की नंदा देवी छोड़, इतनी दूर आए हैं—पर वह बैठी ही रहती। इस बार, छाती से सारंगी बाँधे, उसके साथ-साथ चल रहा उसका साजिंदा अपनी सारंगी की छड़ को उसकी झुकी पीठ में कोंचता। इतने वर्षों में भी उस क्रूर व्यक्ति की ऐंठी मूंछें, सुरमाभरी रहम से ख़ाली आँखें और सिलवट पड़ी सस्ते गुलाबी अतलस की कमीज़ की एक-एक सिलवट मुझे याद है। जैसे शैतान बच्चों द्वारा खिलवाड़ में पकड़कर सहसा छोड़ दी गयी तितली, क्षण भर किसी फूल पर विश्राम कर, उन शैतान क़दमों की आहट पा, क्षत-विक्षत पंख फड़फड़ाती फिर उड़ने लगती है, तिलका घबड़ा कर उठती और यंत्रचालित कठपुतली-सी गोल-गोल घूमने लगती। धीरे-धीरे वह नाचती-गाती टोली हमारे द्वार से आगे निकल जाती। तिलका के पदनिक्षेप की लय के साथ-साथ, ऊँची और नीची होती गायकों की स्वरलहरी, विलुप्त हो जाती और अपनी ही समवयसिनी उस अपरिचित किशोरी के प्रति मेरा हृदय, करुणा से द्रवीभूत हो उठता।

'न त्वस्या जन्मजाने जननयन मधुस्यन्दिनी काँति लक्ष्मी।'

दर्शकों के नयनों में मधु की-सी वृष्टि करती हुई यह कांतिमयी किशोरी कौन है? कवयित्री वञ्जिका ने भी क्या ऐसी ही किसी कांतिमयी को देखकर ये अमर पंक्तियाँ लिखी होंगी!

बहुत दिनों बाद, वह मुझे एकदिन अचानक फिर मिल गयी। उस दिन, उसकी सज्जा दूसरी ही थी। लहंगे में जिस नृत्यरता क्लांत किशोरी को मैंने, तारुण्य की देहरी के पास खड़ी देखा था, वह आज पहाड़ी सुत्तन में एकदम ही बच्ची लगती कैशोर्य के सोपान पर उतर आयी थी। मख़मली

कामदार लहंगे के चौड़े गोटे ने ही शायद उसका क़द, उस दिन छलनामय रूप से लम्बा बना दिया था। गढ़वाली लटी की असंख्य परतों में कसी उसकी केशसज्जा में, उस दिन का लम्बोतरा चेहरा आज गोलगाल लग रहा था और भी सुन्दर, और भी लुभावना। माथे पर बड़ी सी चमकती टिकुली के ऊपर खिचा था रोली का तुंग 'सिणुकी पिठ्या' (तिलक)—दोनों पैर मन्दिर की सीढ़ी पर लम्बे कर, वह हाथ की टोकरी से आटे की गोलियाँ निकाल, ताल के पानी में डाल रही थी और शान्त जलराशि में असंख्य बुदबुदे उठाती, अदृश्य टॉरपीडो-सा खनकाती बड़ी-छोटी मछलियाँ उछल-उछल कर आटे की गोलियाँ गपक रही थीं। मैं खड़ी हो गयी, पहले शायद उसने मुझे नहीं देखा फिर मेरी उपस्थिति का आभास पाते ही वह चौंकी और मुसकराई। ठीक ही गाया था गायकों ने सचमुच ही 'पुन्यूकी चंदा' थी तिलका।

'तुम तिलका हो ना ?' मैंने पूछा। 'हाँ, पर तुम्हें कैसे पता ? ओह मुझे डोले के आगे नाचते देखा होगा क्यों ?' वह अन्यमनस्क सी आटे की गोलियाँ डालती चली जा रही थी, 'मुए, भगवती के नाम के साथ मेरा अभागा नाम जोड़कर झोड़े गाते हैं, मेरा क्या, उन्हीं को कीड़े पड़ेंगे।' उसके स्वर की खिन्नता पानी की छपाक-छपाक के बीच और भी स्पष्ट होकर गूंज गयी। 'रामनाम लिखी आटे की सौ गोलियाँ बनाकर रोज भेजती हैं 'बूबू' (बुआ) वही खिलाने यहाँ आती हूँ। आज 'लाख' पूरा हो गया।' 'तुम कहाँ रहती हो ?' मैंने पूछा।

"क्यों ? जहाँ हम सब रहती हैं। हमारी बस्ती नहीं जानतीं क्या ? नैनीताल में तो सब जानते हैं।" वह फिर हँसी, इस बार उसकी उस सिनिकल हँसी में किसी कुंठाग्रस्त प्रौढ़ा की हँसी की-सी खनक थी। ठीक ही तो कह रही थी वह, उस बस्ती को नैनीताल में तब कौन नहीं जानता था ! गोलघर से लगी, किसी बीमार घुनी दंतपक्ति-सी हिलती काठ के अभिशप्त कवाड़ों की उस धूम्रमलिन क़तार को भला कौन नहीं पहचानता था ?

विशेषकर हम पर उन सीढ़ियों की संक्षिप्त पगडंडी पकड़, नीचे की सड़क पर उतरने पर भी घोर प्रतिबन्ध लगा रहता था। "ख़बरदार जो उन रंडियों की सीढ़ियों से उतरी" ताई कहती। किन्तु उन सीढ़ियों से उतरने पर सड़क की एक निरर्थक परिक्रमा से हम बच जाती थीं, इसी से जब तब बुज़ुर्गों की आँखें बचा, कूदती, फाँदती, वह उतार उतर ही जातीं। "तुम्हारे माता-पिता भी वहीं रहते हैं ?" मैंने अपना दूसरा मूर्ख प्रश्न पूछा। "अजी क्या हूँण देश (तिब्बत) से आई हो तुम ?" अब वह अपनी मधुर हँसी के मीठे मंजीरे खनकाती उठी तो—सुभग नासिका पर असंख्य लुभावनी झुर्रियाँ बिखर गयीं।

"हमारे पिता-विता नहीं होते जी, माँ ही होती हैं, समझीं पर हमारी तो वह भी नहीं है। जन्मते ही हम उसे चाट गयीं—बूबू पालती हैं—उन्हीं के पास रहती हूँ" फिर मेरा परिचय पूछती, वह मेरे साथ-साथ चलने लगी। उन दिनों अल्मोड़े में, गाँधी की आँधी में शहर का पत्ता-पत्ता काँप रहा था। तिलका के पेशे की ही एक प्रौढ़ा, व्यवसाय ख़ासा होने पर भी स्वेच्छा से ही पेशवाज घुँघरू बहा, शहर में खद्दर की फेरी लगाने लगी थी। देखते ही देखते उसकी गठरी बिक जाती और जितना कभी उसे उसकी एक-एक ठुमरी दिलाती थी उतना अब वह खद्दर के आधे दर्जन रूमालों की बिक्री से ही कमा लेती। मैंने भी उस लोकप्रिया फेरीवाली से, एक चौड़े लाल पाड़ की खद्दर की साड़ी ख़रीदी थी। उस दिन मैं वही पहने थी। इत्र में बसे फँसे, मखमल दिलपसंद के लहंगे और फुलवर के पिछौड़ों की परिधानाभ्यस्त तिलका, मेरी उस खद्दर की साड़ी पर रीझ गयी—"हाय कितनी अच्छी लग रही है, मेरा भी बड़ा जी करता है कभी खद्दर की साड़ी पहनूँ—कितने में आती है जी ?"

"तुम्हें अच्छी लगी ?" मैंने हँसकर कहा—"तुम ले लो मैं अपने लिए फिर ले लूँगी। मैंने तो यह अल्मोड़ा से ली थी। कल इसी वक्त यहीं पर मिलना, मैं ले आऊँगी। 'सच ?" क्षण भर को तारे-सी चमकती उसकी

आँखों की चमक, सहसा दप से बुझ गयी ।

"पर रुपये मैं कैसे दे पाऊँगी ?" मेरे तो सब रुपये गोलख में बन्द हैं और गोलख बूबू के बक्से में बन्द रहता है ।"

"तुम क्या सोच रही हो मैं तुमसे साड़ी के रुपये लूँगी ? तुम कल इसी वक्त, यहीं पर मिलना, साड़ी तुम्हें मिल जायेगी बस ?" दूसरे दिन, मैं साड़ी का पैकेट लिए पहुँची तो मन्दिर के विराट घंटे के नीचे खड़ी, नतमुखी तिलका मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही उसने लपककर, किसी बच्ची के से अधैर्य से पैकेट छीन लिया ।

"अजी सुनो, कुछ तो लेना ही होगा तुम्हें, मैं यह रूमाल लाई हूँ तुम्हारे लिए, असली रेशम का है—सिंह ठेकेदार ने दिया था मुझे"—उसने मुझे वही मुड़ा-तुड़ा सस्ते इत्र में बसा असली रेशमी रूमाल थमा दिया जिसे हिला-हिला, वह डोले के आगे नाचती तो कुमायूँ के शतशत बाँकों के हृदय भी एक साथ झूमझूम कर नाचने लगते ।

"सुनो कल यही साड़ी पहनकर आना तिलका" मैंने कहा, "मैं तुम्हारी इसी घंटे के नीचे एक तस्वीर खीचूँगी ।"

उसकी मुग्ध विस्फारित दृष्टि की दूधिया भोली चावनी, नारी होने पर भी मेरा हृदय आलोड़ित कर गयी ।

"हाय राम, तुम फ़ोटू खींचना भी जानती हो जी ? हाँ, हाँ जरूर आऊँगी और तुम्हें वह गाना भी सुनाऊँगी —

प्रीतम चतुर सुजान
गांधी जी का चरखा ला दे
शहर बरेली जा दे
बरेली का सुरमा ला दे
चरखे में बसे हैं परान
गांधी जी का चरखा ला दे

मैं तो समय से ही पहुँची थी पर तिलका नहीं आयी । बड़ी देर तक

मैं बैठी रही फिर निराश होकर लौट आयी। सात-आठ दिन बाद, मैं एक दिन वही वर्जित सीढ़ियाँ उतर रही थी कि क्षीण कततलध्वनि के बीच, अपना नाम सुन कर चौंकी।

पानी का अधभरा गगरा नल की क्षीण धारा के नीचे साधे, तिलका खड़ी थी। पीली फुलवर की काली मख़मली बेल लगी साड़ी में उसका चेहरा और भी पीला लग रहा था। शुभ्र ललाट पर बंधी पट्टी देखकर मैं चौंकी।

"यह चोट कैसे लगी ?" मैंने पूछा।

"श्शं—धीरे-धीरे, ऊपर वह हरामज़ादा खड़ा है, बुआ का 'कुर्रम'।"

मैंने कनखियों से देखा, उसे अपनी सारंगी की छड़ से कोंचने वाला वही क्रूर रिंग मास्टर हमारे सौभाग्य से, हमारी ओर पीठ किए अपनी मूँछें ऐंठ रहा था।

"क्या हुआ यह ?", मैंने पूछा—"चोट लगी क्या ?"

"चोट नहीं लगी, बूबू ने इसी बदजात से पिटवाया था।" दम तोड़ती चिड़िया की काँपती चोंच की भाँति उसके अधरपुट अधखुले होकर काँपने लगे।

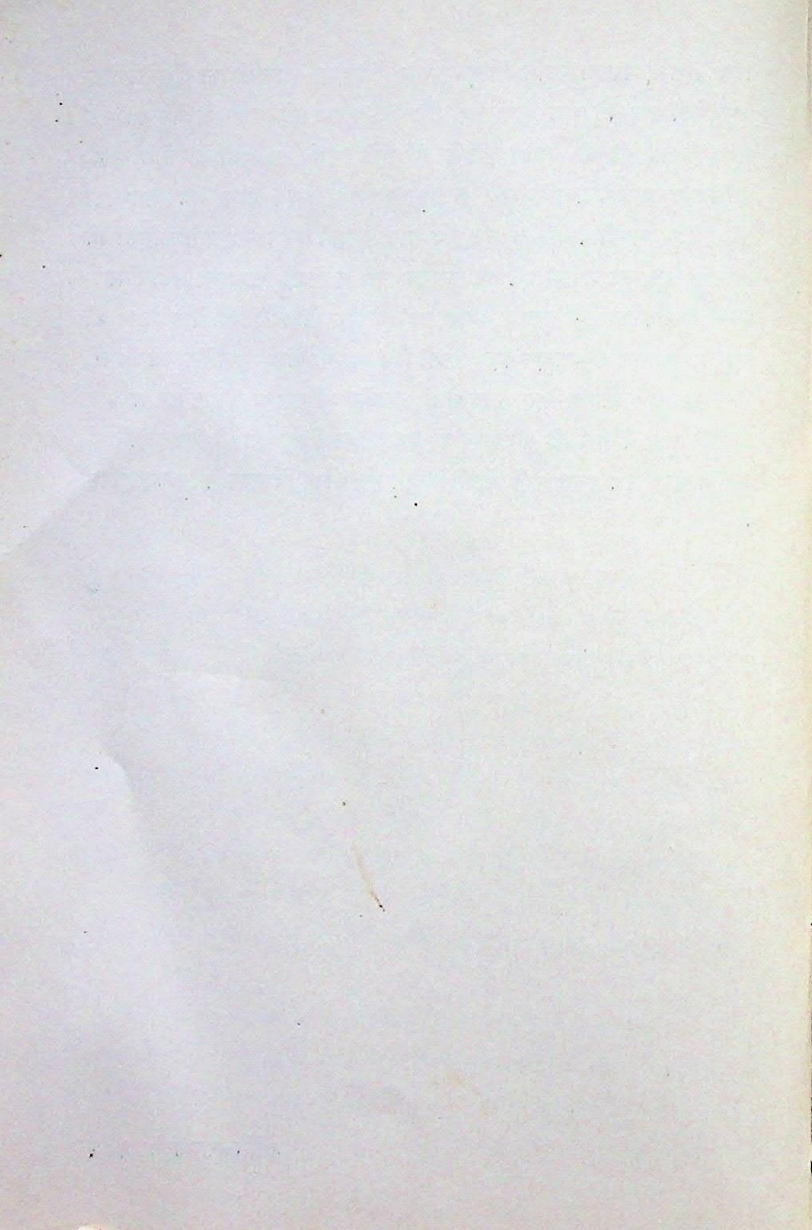
"मैंने वही साड़ी पहन ली, बूबू सनक गयी—बोली, 'अंग्रेज़ लाट कमिश्नरों के यहाँ हमारा उठना बैठना है और तू यह घरफुक्का खद्दर पहन आयी है। बोल हरामजादी कौन है तुझे खद्दर पहनाने वाला तेरा नया यार !" मैंने तुम्हारा नाम नहीं बताया तो इसी मुछंदर ने छड़ी उठाकर मार दी। बड़ा-सा घाव हो गया है, तीन टाँके लगे हैं। साड़ी भी उठाकर चूल्हे में जला दी।" आँसू की बूंदें, उसके लाख रोकने पर भी सुचिक्कन कपोलों पर ढुलक गयीं।

"तुम जाओ जी, कहीं देख लिया हरामी ने तो फिर मारेगा।",

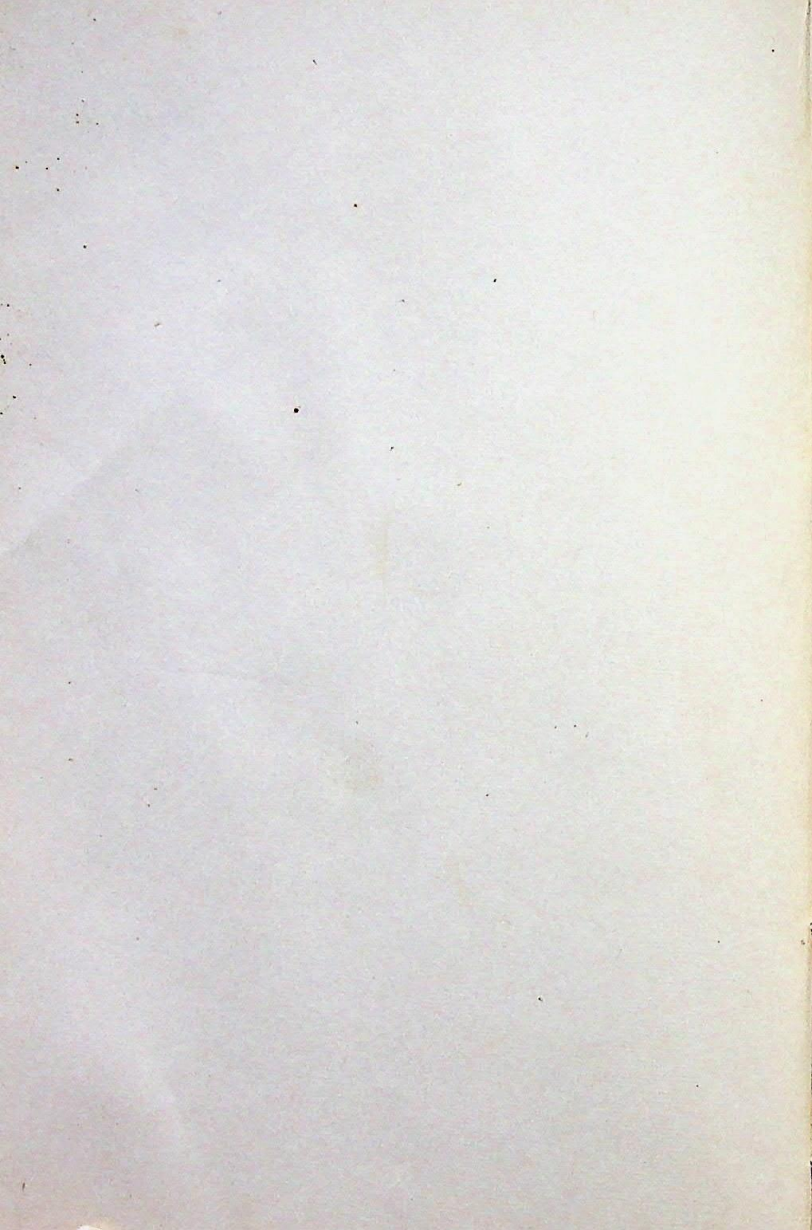
उसी दबी सिसकी की स्मृति संजोये, मैं उन बदनाम सीढ़ियों पर स्केट सी करती उतर गयी। मेरा स्मृति-चिह्न तो उसकी बुआ के कुर्रम ने जला

दिया, किन्तु उसका स्मृति-चिह्न उसके ठेकेदार—प्रणयी का दिया प्रेमोपहार वर्षों तक मेरे पास धरा रहा, फिर बैंगलोर की यात्रा में, मेरे बक्से के साथ ही वह भी खो गया। अपनी दक्षिणी रेशमी साड़ियों के खोने से भी अधिक दुःख मुझे उस रूमाल के खोने का हुआ था। आज, जब स्वतन्त्रता की रजत-जयन्ती के अवसर पर, देश के कोने-कोने से स्वतन्त्रता सेनानियों को ढूँढ़-ढूँढ़, सूद-ब्याज समेत उनके सर पर पड़ी लाठियों का मूल्य बड़ी ईमानदारी से चुकाया जा रहा है, मुझे उस निर्भीक किशोरी के पीले चेहरे की स्मृति रह-रहकर व्याकुल कर उठती है। न उसे कोई प्रशस्ति-पत्र मिला, न ताम्रपत्र ! किन्तु फिर सोचती हूँ, उसके अभिशप्त ललाट पर अंकित, उसकी बुआ के साजिंदे की छड़ी का वह अमिट चिह्न ही तो उसका कीर्ति-स्तम्भ था ! उन हस्ताक्षरों को तो चाहने पर भी न विधाता मेट सका होगा, न कालचक्र !

•



आपबीती



आज एक विस्मृत राजप्रसाद के अन्तःपुर की स्मृति मुझे बीस वर्ष पूर्व हुई एक अपूर्व गोष्ठी के बीच बार-बार खींच रही है। कैसा आश्चर्य है कि जहाँ कहानी की सृष्टि अपने बस की बात नहीं है, प्रसववेदना की भाँति वह स्वयं अपना समय निर्धारित करती है, वहीं पर संस्मरणों की मंजूषा, कभी भी किसी उजड़े इत्रफ़रोश की काँच लगी रिक्त मंजूषा की भाँति ढकना खोलते ही अपनी मादक भ्रामक सुगन्ध से सूंघने वाले को भाव-विभोर कर देती है।

बुन्देलखण्ड की सुरम्य पृष्ठभूमि में कंकरीली छोटी-मोटी ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों के बीच खड़ा ऐतिहासिक दुर्गद्वार। छोटे-मोटे जालीदार झरोखों से झाँकती मृगनैनियाँ, टेढ़ी-मेढ़ी मारवाड़ी घाघरे की-सी घुमावदार लोहे-की सीढ़ियाँ और पीतल के चमकते, कील जड़े ठेठ बुन्देलखण्डी ऐसे लौह कपाट जिन्हें कभी औरंगज़ेब की निर्मम गोलाबारी भी नहीं हिला सकी थी। कई छोटे-मोटे दालान, संगमरमर के बने तुलसी के चौरे पारकर किले के अन्तःपुर की विराट ड्योढ़ी के प्रांगण में पहुँचती हूँ।

बाँका जयपुरी लहरदार साफ़ा और तंग जोधपुरी पर सफेद बंद गले के शार्कस्किन का कोट पहने ड्योढ़ी अफ़सर बिरजन भैया अतिथियों की सूची बना रहे हैं। आठ-दस मालिनें दक्ष हाथों से, बड़े-बड़े कनेर और लाल

हरी पन्नी से सजातीं बेले के गजरे गूँथ रही हैं। महल के कल्लू दरज़ी को दम मारने की फ़ुर्सत नहीं है। राजकन्या के नाटक के लिए विशेष पोशाक बनाने का सम्मान मिला है उसे ! उधर राजकन्या के मुख्य कमरे की सज्जा का कहना ही क्या ! शेर की चमड़ी से मढ़े उनके पीतल के काठियावाड़ी हिंचडे पर हल्की-हल्की पेंगें लेती, सोने के पानदान से गुलाब जल भीगे सुवासित मघई पान गुलगुलातीं स्वयं महारानी साहबा रंगमंच बनवा रही हैं। क्या सौम्य आकृति है बासाहब की और कैसा अनोखा रोबीला कण्ठ-स्वर। कान में झूल रहे हैं हीरे के नन्हे से झुमके, पैरों में पड़ी सोने की पायजेब हर पेंग के साथ झलझला उठती है। शरीर कुछ भारी होने पर भी चाल में एक अलस गरिमा है। किन्तु सबसे आकर्षक है उनकी स्नेह सिक्त मुस्कान। विशेष प्रकार से तीन बार झुककर उनको प्रणाम करने का कठोर नियम है। एक लम्बे अरसे से बोर्डिंग में रहने के कारण सब रियासती अदब क़ायदे भूल जाती हूँ पर जितनी ही बार उस तेजस्वी चेहरे से दृष्टि टकराती है, वे हँसकर पीठ थपथपा स्वयं ही मूक क्षमादान दे देती हैं। क़िले में आज विशेष 'गोठ' अर्थात् गोष्ठी है। राज-पारिवार की राजकन्या और उनकी सखियाँ, गोष्ठी में अपना नाटक प्रस्तुत कर रही हैं, 'लक्ष्मी का स्वागत'। कई परिचारिकाएँ बारी-बारी से सोने-चाँदी के गंगाजमनी गिलासों में सुवासित जल लाकर, पात्रियों के सुकुमार कण्ठों को निरर्थक सिक्त कर रही है। आकर्षण का मुख्य केन्द्र बनी हैं राजकन्या, जिन्हें बुन्देलखण्ड में 'राजा' कहकर पुकारा जाता है। उनकी ताई-चाची अर्थात् सझली, मँझली, और छोटी रानी की भ्रमरावलि उनके चारों ओर गुनगुना रही है। "हाय वारी जाऊँ, राजा को देखो, उनके सुन्दर चाँद से मुखड़े पर मूँछें कैसी फ़ब रही हैं !"

"अरी कानबाई, कहाँ मर गयी निगोड़ी, चून मिर्च की नजर उतार कर चौबारे पर तो धर आ, उमर गुज़र गयी रजवाड़ों में, पर मुई किले की एक राह-रस्म नहीं सीख पायी।" वृद्ध कानबाई कानों सेनहीं सुनती इसी

से खीस निपोर देती है। उसकी गर्दन भरत नाट्यम कर तीदक्षिणी गुड़िया की गर्दन की भाँति सदा हिलती रहती है। पक्षाघात का एक झटका उसे यह विचित्र मुद्रा प्रदान कर गया है। वह राजा की मुँह-लगी दासी है और बचपन से ही उसने उन्हें गोद में खिलाया है। लाड़ में पली उसकी राजा, जिनके चरण पृथ्वी पर पड़ते ही वह 'खम्मा खम्मा' कह विह्वल हो उठती है, अचानक इस नाटक के अखाड़े में कूद पड़ी है यह उसे नहीं भाता। उसका सारा आक्रोश मुझपर है, मैंने ही इस नाटक का प्रस्ताव रखा था।

दूसरी दासी अजोबाई बड़ी गम्भीर और सलीक़े वाली है। चपला राजकन्या और उनकी सखियाँ, अजोबाई की स्पष्ट मूँछ और नन्ही-सी दाढ़ी का मज़ाक उड़ाती रहती हैं, पर वह निर्विकार भाव से, परिहास गरल, नीलकण्ठ बनी ग्रहण करती रहती है।

"क्यों री अजोबाई, तुझे एक छोटा-सा उस्तरा भेंट कर दें? या बुन्देलखण्डी दाढ़ी रखेगी वैसी, देख?" राजा विशाल भित्ति-चित्रों को दिखाती है जहाँ बीच से दाढ़ी की माँग निकाल जापानी पंखे की-सी सज्जा में छिटकाये राजवंश के अनेक बुन्देलखण्डी पूर्वज मुस्करा रहे हैं। अजोबाई अपनी स्निग्ध हँसी से सब का मन मोह लेती है। "आज तो अन्नदाता की भी मूँछ बनी हैं, आप ही बताएँ सरकार, दाढी-मूँछ रखूँ या उस्तरा!"

भौं बनाने वाली पेन्सिल से बनी नकली मूँछों की स्वामिनी अठारह वर्ष की सुन्दरी अन्नदाता अपने मोती के से दाँत दिखाकर हँस देती है। गोठ रंग पकड़ रही है। दर्शकों का आना आरम्भ हो गया है। दरबार हाल खचाखच भर गया है। पन्ना से 'फूआजू' का आगमन, इसी विशेष अवसर के उपलक्ष में हुआ है, उन्हें संगीत, अभिनय में विशेष रुचि है, उनके पीछे-पीछे उनकी दासियों की चींटी की-सी लम्बी क़तार चल रही है। दर्शक मण्डली अधीर हुई जा रही है, एक तो दर्शकों में केवल स्त्रियाँ हैं इसी से कोलाहल बढ़ता जा रहा है। बीच-बीच में 'फुआजू' रोबीले स्वर में सब को

घुड़क देती है 'चुप करो सब, बढ़िया तमाशा है बातें बंद करो ।' क्षण-भर के लिए हॉल में सन्नाटा छा जाता है, पर आज तक कौन-सी शक्ति, सम्मिलित नारी कण्ठ का कलकल निनाद रोक पायी है ! क्षण-भर की चुप्पी दुगुने वेग से बह निकलती है ।

प्रसाधन-कक्ष में किसी को आने की अनुमति नहीं है फिर भी लुकछिपकर वैसी ही ताक-झाँक चल रही है जो प्रायः किसी भी नाटक के आरम्भ होने के पूर्व चला करती है। कभी एक-आध नकली गलमुच्छे और कभी तलवार छाप-मुँछ की सुई की-सी तीखी नोक दिख जाती है । साथ ही सझली, मँझली और छोटी रानी हँसते-हँसते लोटपोट हो जाती हैं । 'हाय हाय मरी लीलू को तो देखो, कोट-पैण्ट में एकदम डॉ० कोठारी लग रही है ।'

नाटक आरम्भ होता है । समवेत नृत्य में सखियों से घिरी, किशनगढ शैली में राधिका का चित्र-सी लगती स्वयं राजा राधिकावेश में प्रवेश करती हैं । पैरों में असली सोने के वे भारी घुँघरू छनक उठते हैं जिन्हें उसी दिन रनिवास के अँधेरे तहख़ाने से निकालकर चमकाया गया था, जिन्हें शायद बुन्देला वीर छत्रसाल की महारानी के चरणस्पर्श का भी सौभाग्य प्राप्त रहा हो या जो शायद मधुकर शाह की सुन्दरी पटरानी के चरण भी चूम चुके हों ।

विंग से आती गुलाबी रोशनी में, राजा का सुन्दर चेहरा और भी सुन्दर लगता है। नौसिखिये चरणों की भंगिमा कभी ताल-लय से विलग हो जाती है पर पूरी गोष्ठी, बीन से सम्मोहित नाग-सी झूम उठती है । फिर आरम्भ होता है नाटक । नृत्य से उत्तेजित दर्शक मण्डली की तालियों की गड़गड़ाहट बन्द होने का नाम ही नहीं लेती तो 'फूआजू' कमाण्डर की मुद्रा में गरज उठती हैं—'घेले सबन कै पटूका' और सम्भावित पटूका प्रहार के राजसी आदेश से दर्शक अपना कलरव पुनः कण्ठ में खींच लेते हैं ।

एक दृश्य में मुख्यपात्र रोशन को मृत बालक को गोद में लिए स्टेज पर बिलखना है। आज तक प्रत्येक रिहर्सल में उसका अनूठा क्रन्दन पूरे अन्तःपुर को कई बार रुला चुका है, पर आज उसकी तार से टिकायी गयी नकली मूँछों की सुरसुरी से एक अप्रत्याशित छींक, सारा मज़ा किरकिरा कर देती है। छींक की मशीनगन से उसकी मूँछें, चंचल तितली-सी उड़ती दर्शकों की गोद में जा गिरती है और वह बेहया, मृत बबुए को हिलाते स्वयं-भी ही-ही कर हँसने लगती है। पर सझली, मँझली और छोटी रानी पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार, बराबर सिसकियों का पार्श्वसंगीत प्रस्तुत कर रही हैं।

नाटक का पर्दा गिरता है।

एक बार फिर राजकन्या को भीड़ घेर लेती है। कानों की बहरी कान-बाई को फिर मिर्च आटे चून की नजर उतारने का आदेश मिलता है, पर उसके बहरे कान आदेश ग्रहण नहीं कर पाते। मासीबा, दुल्हैया जूको 'मोरलोके पाँख, कबूतर के पंखना' आदि टोना गाकर नजर उतारने का नया आदेश देती हैं। एक बार फिर दाढ़ीजार अजोबाई की अभागी मूँछों पर व्यंग्य की गोलियाँ दाग़ी जाती हैं—'क्यों री अजोबाई, अगली बार नाटक में मुछन्दर पिता का पार्ट तुझे सौंपा जायेगा, न मूँछें ही बनानी पड़ेंगी न छींक से उनके उड़ने का ही डर रहेगा।'

अजोबाई भला कब चूकने वाली है, उसने भी रियासत का नमक खाया है इसी से सरस्वती निरन्तर जिह्वा पर विराजमान रहती है—

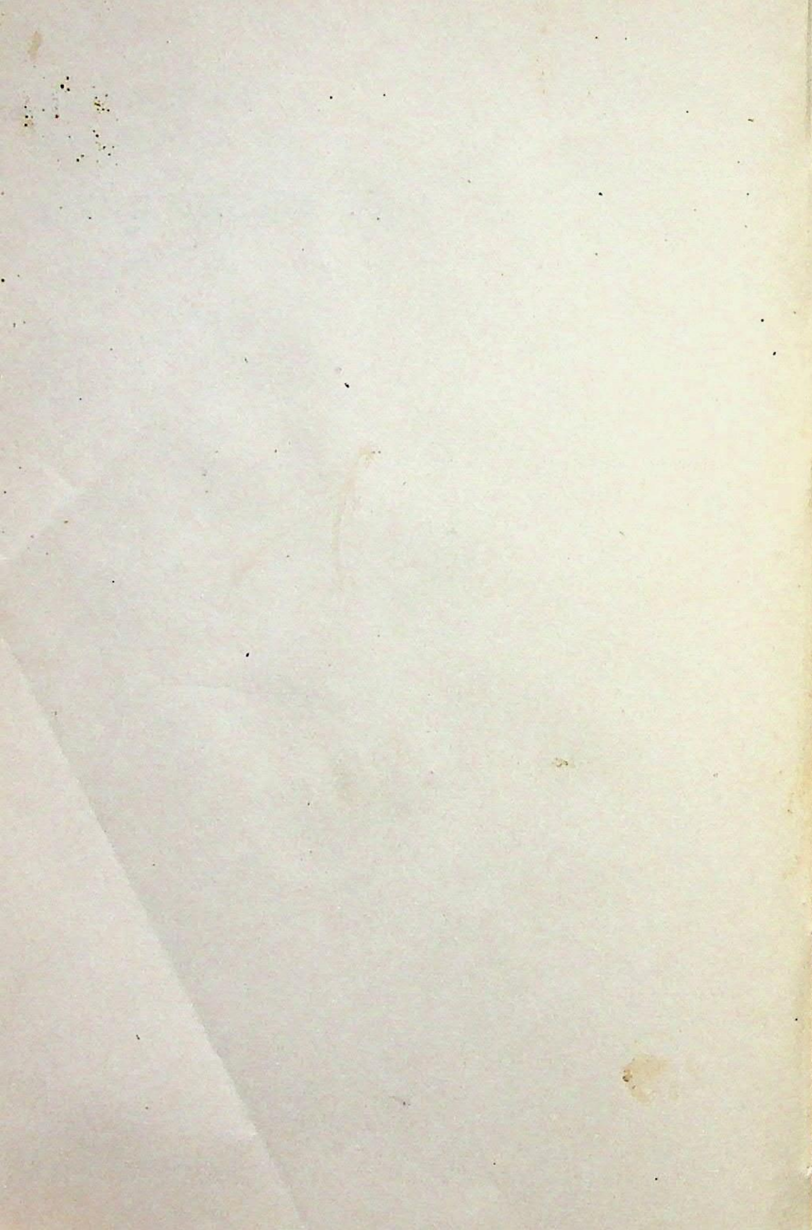
'घणी खम्मा मारा घणी अन्नदाता' वह ठेठ काठियावाड़ी मनमोहक मुद्रा से दोनों हाथों से राजा की नजर का 'दुखड़ा' उतार अपनी कनपटी पर हड्डियाँ चरमराती है 'आज तो धन्य भाग जो इन आँखों ने अन्नदाता के चन्द्रमुख पर बनी मूँछें देख लीं—अपनी मूँछों का सब दुःख भूल गयी हूँ।'

और अठारह वर्ष की सुन्दरी अन्नदाता अपनी धुँधली पड़ गयी नकली

मूँछों की क्षीण रेखा के नीचे खिंच गये लजीली मुस्कान के इन्द्रधनुष से उस अनूठे अन्त:पुर की अनोखी गोष्ठी को धन्य कर देती हैं।

रियासतों के साथ-साथ न जाने कितने ऐसे रंगीले अन्त:पुरों का अस्तित्व विलीन हो गया है। रह गया है क्षुधित पाषाण के-से धुँघरुओं की केवल माया मरीचिका !

एक अनाघ्रात पुष्प



मेरे सामने, राजभवन की आधी दीवार घेरे, बेगम समरू का विशाल तैल चित्र, मुस्करा रहा था। सचमुच ही कैसा रोबदार व्यक्तित्व है, इस महिला का ! चुस्त चूड़ीदार पर, मणिपुरी नर्तकी का-सा, कड़ी कलफ़ में सधा कुर्ता, गले में मोतियों की कण्ठी, तूलिका से अंकित-सा बंकिम भ्रु विलास और क्रूर पतले अधरों का रहस्यात्मक स्मित। चेहरा अनुभवी संसारी प्रौढ़ा का है किन्तु आँखों में है नवतारुण्य ! कभी गांधीजी ने कहा था कि, "मैं रस्किन का अध्ययन करूँ तब उसे समझूँ या वह स्वयं समझाये तब समझूँ, इसे मैं कला नहीं कहता, कला वह है कि मैं चुप रहूँ और वह बोले।" बेगम का यह चित्र ऐसा ही सजीव है। लगता है—अभी झुककर, वह सामने रखी पेंचदार सुनहली नली को होंठों में दबा, लखनऊ के अम्बरी तम्बाकू की कश लगाकर, राजभवन की दिशाएँ सुवासित कर देगी। 'चलिए हुज़ूर' नम्रता से दुहरा होकर, राजभवन की लाल वर्दी में, लखनऊ के मिट्टी के खिलौने-सा संवरा अर्दली, मुझे मखमली सीढ़ियों का पथ दिखाने लगा तो मैं चौंकी। लखनऊ के राजभवन की सज्जा में अब भी मुग़ल कालीन सज्जा की स्पष्ट छाप है। समय के साथ-साथ राजभवन के राजनयिक शिष्टाचार (प्रोटोकोल) में भी अब बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। मैं शिलाँग राज-भवन का वैभव, तब भी देख चुकी हूँ जब बंगाल के आंग्ल राज्यपाल, वहाँ

ग्रीष्मावकाश में आया करते थे। मेरी एक सहपाठिनी के पिता को राय-बहादुरी का ख़िताब मिलने पर, उन्हें सहपरिवार लाटसाहब की 'गार्डन पार्टी' में आमन्त्रित किया गया था। उस प्रोटोकोल की फ़ौजी कवायद को, मैं अभी भी नहीं भूल पायी हूँ। मई की सड़ी गर्मी में भी, स्टिफ़-स्टार्च कॉलर एवं टाई का अनिवार्य फाँसी-फन्दा, गले में लटका, रायबहादुर साहब ने हमें एक सौ बीस हिदायतें एक साथ दे डाली थीं। 'तेज़ व ख़ुशबूदार तेल मत डाल बैठना कहीं, इन लाटसाहब की मेम लोगों को हमारे इत्र-फुलेल की ख़ुशबू से ही जुकाम हो जाता है और ख़बरदार! कहीं डकार-वकार मत निकाल बैठना, समझीं? एक बार, एक जज साहब की सारी जजी इसी बात पर चुटकियों में निकल गयी थी। और कब किस जज की जजानी ने लाटसाहब की गार्डन पार्टी को अपनी अभागी डकार से मलिन कर दिया था, यह सब रायबहादुर सेन, हमें ईसप की कहानी की भाँति सुनाते, जिससे हम सावधान बनी रहें।

अब राजभवन के नियम, निश्चय ही इतने अमानवीय नहीं रह गये हैं, पर मख़मली पर्दे, विशाल भित्तिचित्र, लाल वर्दीधारी अर्दली, चाबी-दार खिलौनों से यन्त्रचालित ए० डी० सी० अब भी राजभवन के नाम को सार्थक करते हैं।

उत्तरप्रदेश के, इस महिमामय राजभवन की राजमहिषी कितनी सरल एवं इस प्रोटोकोल से जितनी अछूती हैं, शायद इसे बहुत कम लोग जानते होंगे।

श्रीमती लक्ष्मी कान्तम्मा रेड्डी से मेरा परिचय, कोई पच्चीस वर्ष पुराना है। उस शान्त, दुबली-पतली लड़की के साँवले आकर्षण ने मुझे पहले ही दिन बाँध लिया। दो वर्षों तक, हम शान्तिनिकेतन में, वयस एवं कक्षा का अन्तर होने पर भी, अटूट मैत्री के सूत्र में बंधी रहीं फिर विवाह होते ही उत्तर दक्षिण दिशाओं में पच्चीस वर्षों तक भटक गयीं।

इतने वर्षों पश्चात्, जब नैनीताल में फिर उनसे मिलने गयी तो कितने

ही तर्क-वितर्क मुझे बींधने लगे। पच्चीस वर्ष पूर्व 'सुदर्शन महल' की स्वामिनी ने जैसे गले मिलकर, नीलोर में मेरा स्वागत किया था, क्या आज भी वैसे ही सरल स्नेह की गलबहियाँ दे पायेगी ? क्या हम दोनों के बीच, राजभवन के आईन, क़ानून की दीवार, स्वयं ही नहीं खड़ी हो जायेगी ? क्या मुझे यह बार-बार स्मरण रखना होगा कि मेरी सखी अब वह कान्तम्मा दी नहीं है जिनकी लुभावनी दक्षिण साड़ियाँ, मैं उनके बक्से से बड़ी बेतकल्लुफ़ी से निकालकर, पहन लेती थी, जिनके गले की सोनेमढ़ी शंखमाला, साल में छह महीने, मेरे ही कण्ठ की शोभा बढ़ाती थी।

नैनीताल के राजभवन में, मैं पहले भी तीन-चार बार जा चुकी हूँ। इन्द्रपुरी की छटा को भी लज्जित करते, इस गगन चुम्बी राजभवन की छटा वास्तव में दिव्य है। अनुभवी हाथों से लगाये गये फूलदान, सधे चातुर्य से चमकाई गयी लम्बोदर गजानन की पीतल की मूर्ति, दीवार पर लटके, शायद लेडी हैलेट के अंकित जागेश्वर के चित्र, आदमक़द शीशे, जिनमें स्वयं अपना प्रतिबिम्ब ही दम्भ से मुस्कराता, अनजान बना आँखों से टकराने लगता है।

गुदगुदे क़ालीन पर, बिल्ली जैसे पंजे धरता अर्दली मुझे भीतर लिवा ले गया।

मेरी शंका निराधार थी।

मेरे सम्मुख वही चिरपरिचिता स्नेही आकृति मुसकराती खड़ी थी। अचानक गुदगुदे क़ालीन, लटकते झाड़-फ़ानूस, चमकते अर्दली किसी अरण्य में विलीन हो गये। पच्चीस वर्ष से बिछुड़ी हम दोनों एक बार फिर 'श्री-भवन' के उसी कमरे में पहुँच गयी थीं।

मैं कहती, 'तुम मोटी हो गयी हो।'

वह कहतीं, 'तुम।'

राजभवन में उस दिन अतिथियों का मेला जुटा था। लिपस्टिक के विभिन्न शेड, पैरों से चिपकी चूड़ीदार, उस्तरे की धार-सी सधी पैंट की

क्रीज़ की छटा देखते ही बन रही थी। राजभवन की बड़ी-सी मेज़ पर, मोमबत्ती के प्रकाश में, सुस्वादु व्यंजनों के बीच भी, मैंने पच्चीस वर्ष पुराने लाल आम के दक्षिणी अचार को पहचान लिया, यही नन्ही चटपटी फाँक न जाने कितनी जीभ और आँतों को हॉस्टल में भी, जलाती थी। एक शीशी में भरकर, कान्तम्मा दी इसे साथ लातीं और देखते-ही-देखते; शीशी साफ़ हो जाती।

पास ही की मेज़ पर, राजभवन में ठहरे किसी सम्मानित अतिथि के पुत्र के सातवें जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में एक जहाज़नुमा केक पर सात नन्हीं मोमबत्तियाँ जगमगा रही थीं।

'कान्तम्मा दी, तुम्हें यह नित्य के आयोजन उत्सव की भीड़ से कभी सरदर्द नहीं होता ?' मैंने चुपके से पूछा, उत्तर में हँस दीं। मैं जानती थी कि वह स्वभाव से ही, प्रदर्शन साज-सज्जा या भीड़भाड़ से विरक्त थीं। आश्रम में भी मैंने कभी उन्हें भड़कीली साड़ियाँ पहने नहीं देखा। बहुत आग्रह करने पर वह एक अंग्रेज़ी नाटक 'बिशप्स कैंडिलस्टिक्स, में अभिनय करने को राज़ी हो पायी थीं। आश्रम में उत्सव आयोजन का नित्य मेला लगा रहता पर कान्तम्मा दी को घसीटकर ही ले जाना पड़ता। आज राज्यपाल महोदय के साथ, वह प्राय: प्रत्येक उत्सव पर उपस्थित रहती हैं।

एक विदेशी उक्ति है कि, 'पत्नी का विवाह केवल पति से ही नहीं होता उसके पद से भी होता है।' कान्तम्मा दी पति की ही नहीं, उनके महिमामय पद की भी आदर्श पत्नी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मैं जानती हूँ कि बोटहाउस की बनावटी चहल-पहल से, उन्हें नैना-देवी के भव्य मन्दिर की झाँकी कहीं अधिक रुचती है। देशभ्रमण, साधु-सन्तों का समागम उन्हें स्वभाव से ही प्रिय है। एक बार जब उनके पति कुरनूल में मुख्यमन्त्री थे, उन्होंने मुझ से एक लम्बी चिट्ठी में कितनी ही बातें पूछी थीं। क्या मैंने अमुक स्वाजी के दर्शन किये हैं ? क्या मैं उस

तापसी माँ से मिली हूँ ? उत्तरप्रदेश के कौन-कौन-से मन्दिर प्रसिद्ध हैं ? आदि आदि ।

शायद यह शान्त स्वभाव उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला हैं । उनके पिता, श्री रामा रेड्डी अपने समय के प्रसिद्ध देशसेवी रह चुके हैं । बहुत बड़ा आहता घेरे, उनका 'सुदर्शन महल' भी बहुत कुछ अंश में राज-भवन का ही छोटा संस्करण लगता था फिर भी उनका रहन सहन अत्यन्त सरल था । शायद मायके के इसी सरल आडम्बररहीन जीवन ने, कान्तम्मा दी को श्वसुरगृह की सादगी के लिए बहुत पहले ही गढ़ लिया था । आज उनका सहज व्यक्तित्व, उनके सरल स्वभाव का जीता-जागता प्रतिबिम्ब है । पति के सर्वोच पद का मदज्वर उन्हें न डँस पाया है न कभी डंस पायेगा ।

राजभोज के पश्चात्, हम दोनों ऊपर आयीं तो कान्तम्मा दी ने, आलमारी से, एक सादी घर की धुली खादी की साड़ी निकालकर पहन ली। एक कोने में मुट्ठी भर, दक्षिणी रेशमी साड़ियाँ पड़ी थीं । 'मैं तो सोचती थी, तुम्हारी आलमारी रेशमी साड़ियों से ठसाठस भरी होगी', मैंने कहा — वह हँसीं, 'तुम तो जानती ही हो, मुझे साड़ियों और गहनों से कभी कोई विशेष लगाव नहीं रहा ।'

जिस इन्द्रासन पर वह बैठी हैं उस पर आसीन कितनी इन्द्राणियाँ आज वैसा कह सकती हैं ? हम अलग-बगल के पलंगों पर लेटीं, वर्षों पूर्व की स्मृतियों में डूबती उतरा रही थीं कि कान्तम्मा दी का सबसे छोटा पुत्र उनके कान में आकर नालिश-सी करने लगा । कान्तम्मा दी उसे अपने कान से हटाकर हँसने लगीं ।

'क्या कह रहा है ?' मैंने पूछा

'कहता है मेरे जन्म दिन पर तो तुमने ख़ाली साम्बार-भात बनाकर खिला दिया, आज इतना बड़ा केक कैसे बनाया ?'

'ठीक ही तो कह रहा है' मैंने कहा, 'आखिर लाटसाहब का बेटा हैं' तुम्हें चाहिए था कि उसी के क़द का केक बनवातीं ।' पर मैं नन्हें नालिश

करनेवाले की माँ को पच्चीस वर्षों से जानती हूँ। वह राष्ट्रपति का पुत्र हो या लाटसाहब का, वह सदा एक ऐसी आदर्श माँ का पुत्र रहेगा जिसे आडम्बर, विज्ञापन एवं प्रदर्शन से कभी कोई लगाव नहीं रहा।

आज जब मैं लखनऊ राजभवन में, उनका इण्टरव्यू लेने पहुँची, तो उन्होंने हँसकर अंग्रेज़ी में कहा, 'मेरे विषय में कुछ मत लिखना, मैं कोई महान् स्त्री नहीं हूँ'।

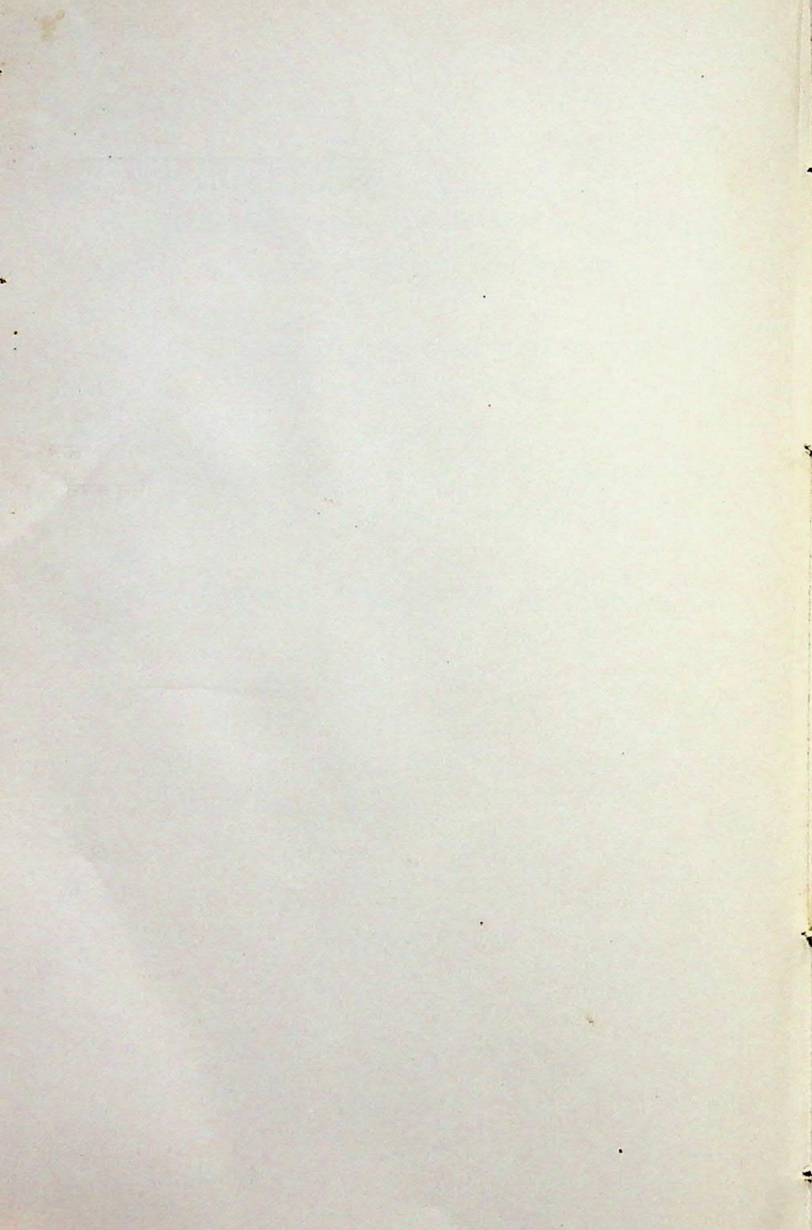
मेरी दृष्टि में, वह एक आदर्श पत्नी, आदर्श जननी एवं आदर्श मित्र हैं और मैं सोचती हूँ कि जिस व्यक्तित्व में इन तीन अलभ्य गुणों का समन्वय हो, वह निश्चय ही एक महान् व्यक्तित्व है।

कहीं पढ़ा था—'सबसे सुगन्धवाली स्त्री वही है, जिसकी गन्ध किसी को नहीं मिलती' मुझे लगता है यह उक्ति लक्ष्मीकान्तम्मा रेड्डी के लिए ही लिखी गयी है।

राजभवन के नन्दनवन में खिलने पर भी वह सदा एक अनाघ्रात पुष्प ही रहेंगी।

●

डॉ० खजानचन्द्र



यह युग विशेषज्ञों का युग है। नवीन युग के विशेषज्ञ की सज्जा, ऊँची फ़ीस, दम्भी स्वभाव, रोगियों एवं उनके आत्मीयों को प्रभावित करते हैं, चिकित्सक की प्रतिभा नहीं। एक महानगरी के, ऐसे ही तीन विशेषज्ञों के सम्मिलित क्लिनिक में बटुआ रिक्त कर, खिन्न चित्त लेकर लौटी मेरी एक मित्र जब कहने लगी—"चमक-दमक ही है बस और कुछ नहीं, दीवारों पर तो नित्य चूना लगाया ही जाता है, साथ ही नए-नए बिल प्रस्तुत कर, तीन विशेषज्ञों की तिकड़मी, मरीज़ों पर भी चूना लगाना नहीं भूलती। एक विशेषज्ञ केवल हृदय का लेखा-जोखा रखता है, दूसरा कण्ठ, श्रवणेन्द्रिय एवं नासिका का, तीसरा, व्याधिग्रस्त फेफड़ों का चित्रगुप्त है, उस पर मरी नर्सों के नख़रे सहो। देखने में सब ऐसी ठसकेदार जैसे विमान-परिचारिकाएँ। पल-पल में जलती, बुझती नियॉन बतियाँ तीन विशेषज्ञों के नाम लिखती, चमकाया करतीं हैं, पर बिल ! बाप रे बाप, ऐसे विशेषज्ञों से तो रोग ही भला !" अपने जिस बढ़ते रक्तचाप का उपचार कराने मेरी परिचिता, उतनी दूर, उस प्रख्यात वातानुकूलित क्लिनिक में गई थीं, वह बिल देख-कर और भी बढ़ गया, घटा नहीं। कुछ ही माह पूर्व, उन विशेषज्ञों के खोखले निर्वीर्य व्यक्तित्व को, बहुत निकट से देखने का मुझे भी सौभाग्य हुआ। मेरे भाई मृत्यु-शैया पर थे, उनको देखने एक ऐसे विशेषज्ञ आए, जिनकी

फ़ीस थी ढाई सौ। 'रोग ऐसा घातक नहीं है, मुझे कोई संकट नहीं दीखता' उनके आश्वासन ने सबका उत्साह बढ़ा दिया। जब इतनी ऊँची फ़ीस है तब आश्वासन क्या व्यर्थ हो सकता था ? पर जब मृत्यु आई, तब एक बार भी विशेषज्ञ की ओर देखे बिना, अपना ग्रास खींच ले गई। किन्तु जो वास्तव में विशेषज्ञ हैं, उनकी ऐसी अवहेलना, एकाएक मृत्यु भी नहीं कर पाती। जब रोगी को ले जाने की विवश घड़ी आती है तब वह सच्चे विशेषज्ञ को आसन्न संकट से चुपचाप अवगत करा जाती है। वह जान लेता है कि अब असंख्य सुइयों की अनावश्यक वेदना, आक्सीजन की कृत्रिम श्वास-प्रश्वास क्रिया या उलटबाँस पर लटकी ग्लूकोज़ की टप-टप, उसके रोगी के शून्य-घट को नहीं भर सकती।

यह सचमुच ही बड़े क्षोभ का विषय है कि कुमाऊँ, अपने एक ऐसे ही निस्स्वार्थ समाजसेवी विशेषज्ञ को प्रायः भुला बैठा है, जिन्होंने क्षय रोग जैसे मारक हठीले हिंस्र राजरोग को कभी पालतू कुत्ते-सा बनाकर अपने द्वार पर बाँध दिया था।

आज जो अन्धकारमय, आशाहीन भविष्य कैंसर के रोगियों का है, वह आज से तीस वर्ष पूर्व क्षयरोगियों का था। फिर कुमाऊँ की तो सृष्टि ही जैसे इस विकट रोग के भृकुटि-विलास में लय होने को तत्पर थी। शायद ही ऐसा कोई गृह बचा होगा, जहाँ इस रोग से एक-आध अर्थी न उठी हो। कितने ही चेहरे आज स्मृति-पटल पर सप्तर्षिमण्डल से घूमने लगते हैं।

मेम-सी गोरी सरोज दी, लाल-लाल गाल और प्रवाल से अधर।

"हाय कैसे लाल गाल हैं तुम्हारे सरोज दी, काश ऐसे गाल मेरे होते" जब मैंने कहा, तब उनकी आँखें भर आई थीं, "चल हट मरी, भगवान करे, दुश्मन के भी न हों ऐसे गाल। यह तो ट्युबरक्युलर फ़्लश है पगली ! इसी से तो डॉ० खजान के पास आई हूँ।"

पर डॉ० खजान के पास पहुँच नहीं पाईं बेचारी, एक ही बार रक्त-वमन करा, लाल गालों की व्यर्थ मरीचिका, तृषार्त्ता सरोज दी को बड़ी

दूर खींच ले गई। फिर परी-सी सुन्दरी मेरी बालसखी हिरिया ! काठ-गोदाम के स्टेशन पर, आराम कुर्सी में पड़े सौन्दर्य कंकाल को मैंने पहले नहीं पहचाना। उसी ने पहचानकर हाथ हिलाया और खुली कलाई से सर्र से सरकती चूड़ी, सींक-सी बाँह का अनन्त बन गई।

'हाय क्या हो गया तुझे हिरिया ?' मैं दौड़कर जब उस से लिपटने लगी, तब अशक्त बाँहों ने मुझे दूर धकेल दिया—"दूर हो अभागी, पूछती है क्या हो गया है मुझे ?और क्या हो सकता है री, हम पहाड़ी लड़कियों को। डॉ० खजान के पास जा रही हूँ—अब समझ गई है ना ?"

समझती क्यों नहीं भला ?

ऐसे ही न जाने कितने मृत्यु-पथ के यात्रियों का, लुअर्ड का सा तीर्थ-स्थल बन गया था भवाली सैनेटोरियम, और लेडी ऑफ़ द लुअर्ड का-सा ही महत्त्व था डॉ० खजान का। जीवन से निराश, प्रचुर व्ययसाध्य मारक रोगकी व्यथा से पीड़ित रोगियों के धूमिल जीवनाकाश में डॉ० खजान ही आशा की एकमात्र किरण थे, एक ऐसा प्रकाश-स्तम्भ, जो जीवन के भयावह समुद्री तूफ़ान में डूबते-उतरते रोगियों को, घातक रोग की चट्टानी टक्कर से आए दिन उबारता रहता। साधन-हीन रोगी के लिए यह रोग, मृत्यु का सन्देश लिए ही आता था। कई परिवारों में तो घर की बहू को यह रोग लगते ही, बेटे के लिए रिश्ते भी आने लगते। रोग के साथ-साथ सौत की सम्भावित अगवानी की भनक, रोगिणी को समय से कुछ पूर्व ही मुक्त कर देती। ठक-ठक करती खाँसी, क्षयरोगी की पसलियाँ खटखटाती और वह डॉ० खजान का द्वार खटखटाता।

ऊँचा क़द, गौर-वर्ण, ऊँचा माथा, सुडौल नासिका आँखों में प्रतिभा की उज्ज्वल दीप्ति और सलीक़े के पहनी गई विदेशी वेश-भूषा। मैंने उन्हें सनेटोरियम के राउण्ड पर देखा है, जब क्षय-आतप से कुम्हलाए चेहरे उन्हें देखते ही फूल से खिल उठते। चौड़ी खिड़कियों से आती सरल स्कन्ध स्पर्श करती बयार, स्वच्छता ऐसी जैसे किसी ने जीभ से चाटकर फ़र्श बुहारा हो

और अनुशासनप्रिय डॉ० खजान के मरीज़, दम साधे ऐसे 'आइज़राइट' की मुद्रा में पड़े रहते जैसे कोई पूरी फ़ौजी टुकड़ी अपने अफ़सर के निरीक्षण के लिए चानमारी की मुद्रा में पड़ी हो। इस विशेषज्ञ का कठोर आदेश भी रोगी, ओषधि के अनुपात में स्वेच्छा से ग्रहण करते थे। सुदीर्घ अनुभव ने इस छलनामय कुटिल रोग की एक-एक छिपी चाल समझा दी थी। वर्षों तक फेफड़ों में अवश बनकर छिपा यह रोग, कभी भी अफ़ज़ल खाँ का-सा 'बघनखा' निकाल सकता है, यह वह समझते थे। इसीसे किसी स्वस्थ रोगिणी के बार-बार घर लौट जाने के दुराग्रह का उत्तर मिलता—"ठीक है चली जाओ, पर देख लेना तीन महीने बाद फिर लौटना होगा।

और सचमुच ही अपने दुराग्रह का उचित दण्ड पाकर, रोगिणी खिसियाया चेहरा लटकाए, तीसरे ही महीने लौट आती। किसी को आदेश मिलता, "बाईं करवट लेटी रहोगी समझी ?" और किसी हठयोगी की ही भाँति, बाईं करवट पर सुदीर्घ दो वर्ष लेटी-लेटी खोखले फेफड़ों की स्वामिनी, असाध्य रोग पर विजय पा लेती।

कुमाऊँ के अनेक यक्ष्मा रोगियों को जीवनदान देनेवाले इस प्रतिभाशाली विशेषज्ञ का जन्म, २५ अगस्त सन् १८९७ में, पंजाब के गुरुदासपुर में हुआ। १९२५ में किंग जार्ज मेडिकल कालेज से एम० बी०, बी० एस० की डिग्री लेकर डॉ० खजान चन्द्र अलमोड़ा आ गए। वहाँ आकर जब उन्होंने अपनी प्रैक्टिस आरम्भ की, तब क्षय रोग का मारात्मक विषधर, अपनी पूरी कुण्डली खोल अलमोड़ा का सम्पूर्ण क्षेत्रफल घेर चुका था। न पहाड़ के संयुक्त परिवारों में इस राजरोग के परहेज़ की व्यवस्था थी न परिचर्या की। तरुण डॉ० के चित्त में, घने दावंदारों के झुरमट में इन अभिशप्त रोगियों के लिए एक छोटे-से सैनेटोरियम की काल्पनिक नींव पड़ने लगी थी, किन्तु अपनी उस काल्पनिक योजना को कार्यान्वित करने के लिए, न उसके पास पर्याप्त धन था, न सहयोगी। पहला उदार सहयोग दिया स्वयं प्रकृति ने, क्षय रोगियों के लिए प्राणदायिनी संजीवनी देवद्रुमों की बयार

उन्मुक्त आकाश और झरने का मीठा पानी। और इसी बीच, इस रोग से ग्रस्त हो, जीवन से एक प्रकार से निराश होकर पहाड़ आ गई एक विदेशिनी महिला से, डॉ० खजानचन्द्र का परिचय हुआ। इसी बीच उक्त महिला का नन्हा पुत्र भी इसी छुतहे रोग का शिकार हो चुका था। उन्हीं दो मरीज़ों के साथ सन् १९२६ में डॉ० खजानचन्द्र ने अलमोड़ा के पहले सैनेटोरियम की स्थापना की। इसी पाइनहिल सैनेटोरियम में, धीरे-धीरे ५० वेड बने, फिर रोगियों की संख्या दो सौ तक पहुँच गई।

क्षयरोगियों को सैनेटोरियम में भेजने से केवल उन्हीं के जीवन की आशा नहीं बँधती, परिवार के अन्य सदस्यों के जीवन में भी सुरक्षा सुदृढ़ हो जाती है, लोगों की समझ में यह बात भी आने लगी। इसी बीच पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त का ध्यान इस निस्वार्थ चिकित्सक ने विशेष रूप से आकृष्ट किया। पन्त जी स्वयं मानवता के उन अनुपम जौहरियों में थे, जो एक ही झलक में असली हीरे की क़ीमत आँक लिया करते हैं। उन्होंने डॉ० खजानचन्द्र को किंग एडवर्ड-सेवंथ टी० बी० सैनेटोरियम, भवाली का संचालक नियुक्त कर दिया। यह पद निस्सन्देह इस विनम्र विशेषज्ञ की की योग्यता के अनुकूल था।

डॉ० खजान सन् १९५० से १९६० तक इस महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहे ओर भवाली सैनेटोरियम, जिस की गणना अब तक भारत के सबसे बड़े और सबसे पुराने सैनेटोरियमों में की जाती थी, अब भारत के सर्वश्रेष्ठ सैनेटोरियमों में की जाने लगी। सन् १९५० में ही डॉ० खजान ने टी० बी० पेशेन्ट्स वैलफेयर सोसाइटी की स्थापना की, जहाँ स्वास्थ लाभ कर लौटे ऐसे रोगियों के रहने की व्यवस्था थी, जिन्हें क्षयरोग से छुट्टी मिलने पर भी, रोग के आघात से सम्पूर्ण रूप से छुट्टी नहीं मिल पाती। कई रोगी ऐसे होते हैं, जिन्हें इस मारक रोग से लम्बे अर्से तक जूझने के पश्चात् भारी काम करने की शक्ति नहीं रहती। ऐसे बीस रोगियों का भार, प्रति वर्ष यह संस्था स्वयं वहन करती है। यहाँ इन्हें छोटा-मोटा काम भी सिखलाया

जाता है। जिससे रोगी अपने परिवार पर बोझ बन कर न रहे, साथ ही उस का आत्मविश्वास भी सजग रहे। स्वयं प्रधान मन्त्री नेहरू इस में बराबर आर्थिक योगदान देते रहे और आज जो संस्था दो लाख की पूँजी की पुष्ट नींव पर खड़ी है, उसका शुभारम्भ डॉ० खजान ने ही किया था।

इस बीच डॉ० खजान अपने शोधकार्य में भी संलग्न रहे। यक्ष्मा-सम्बन्धी अनेक विषयों पर उनकी लेखनी निर्बाध रूप से चलती रही।

इस पर भी इस समाजसेवी ने अपना कार्यक्षेत्र, केवल चिकित्सा-जगत तक ही सीमित नहीं रखा। सन् १९३६ में उन्होंने अलमोड़ा हाईस्कूल की स्थापना की, सन् १९३८ से ४५ तक अलमोड़ा म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन रहे। सन् १९४३ में, भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने उनकी निस्स्वार्थ सेवा से प्रभावित होकर इन्हें स्वयं पत्र लिखकर चिकित्सा-जगत् में निस्स्वार्थ सेवा एवं दरिद्र जनता के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने पर रायसाहब की उपाधि देते हुए हार्दिक बधाई दी थी।

क्या यह हमारे लिये रसातल में डूबने जैसी बात नहीं है कि जिसकी निस्स्वार्थ सेवा के लिए, एक विदेशी शासक ने उसे आज से पचीस वर्ष पूर्व सम्मान से विभूषित किया था, उसे आज तक हमारी स्वतन्त्र सत्ता के गुणी जौहरी एक सामान्य-सी मान्यता का सम्मान भी नहीं दे पाए!

जिस व्यक्ति ने अपना सर्वस्व यक्ष्मा के सन्धान पर लगा दिया। जो आज भी क्षय रोग की एक ऐसी संजीवनी औषधि के प्रयोग में लगा है, जिससे वह कई रोगियों को मृत्युद्वार से लौटा लाया है, उसे अब सब भूल गए हैं। केवल क्षयरोग की अन्तिम स्टेज पर दम तोड़ता अफ़सर खाँ, दो इंच के डायमीटर की केविटी से मृतप्राय: वसन्ती देवी, मधुमेह से और भी असाध्य बन गया रोगी श्यामसिंह—आज ये ही स्वस्थ रोगी उस विस्मृत विशेषज्ञ के पद्मभूषण हैं।

"मैंने बिना वेतन के ही अपनी इस औषधि के प्रयोग के लिए भवाली सैनेटोरियम में केवल दो महीने और रहने की अनुमति माँगी थी, पर नहीं

मिली", उन्होंने मुझसे कहा—"अब औषधि बन गई है, बहुत कम मूल्य पर बना यह इंजैक्शन क्षयरोगियों के लिए रामबाण सिद्ध हुआ है। दो महीने और भवाली लैब में मिल गये होते, तो कितना कुछ कर पाता।"

जिसने कभी अव्यवस्था में डूबते सैनेटोरियम को जीवनदान दिया था उसे बड़ी अनिच्छा से वही सैनेटोरियम छोड़ना पड़ा।

यह सचमुच हमारा दुर्भाग्य है कि राजनीति का विष आज शिक्षा एवं चिकित्सा से सम्बद्ध पावन संस्थाओं तक फैल गया है। प्रत्येक नियुक्ति एक राजनीतिक दल की नियुक्ति होती है, गुणी योग्य व्यक्ति की नहीं।

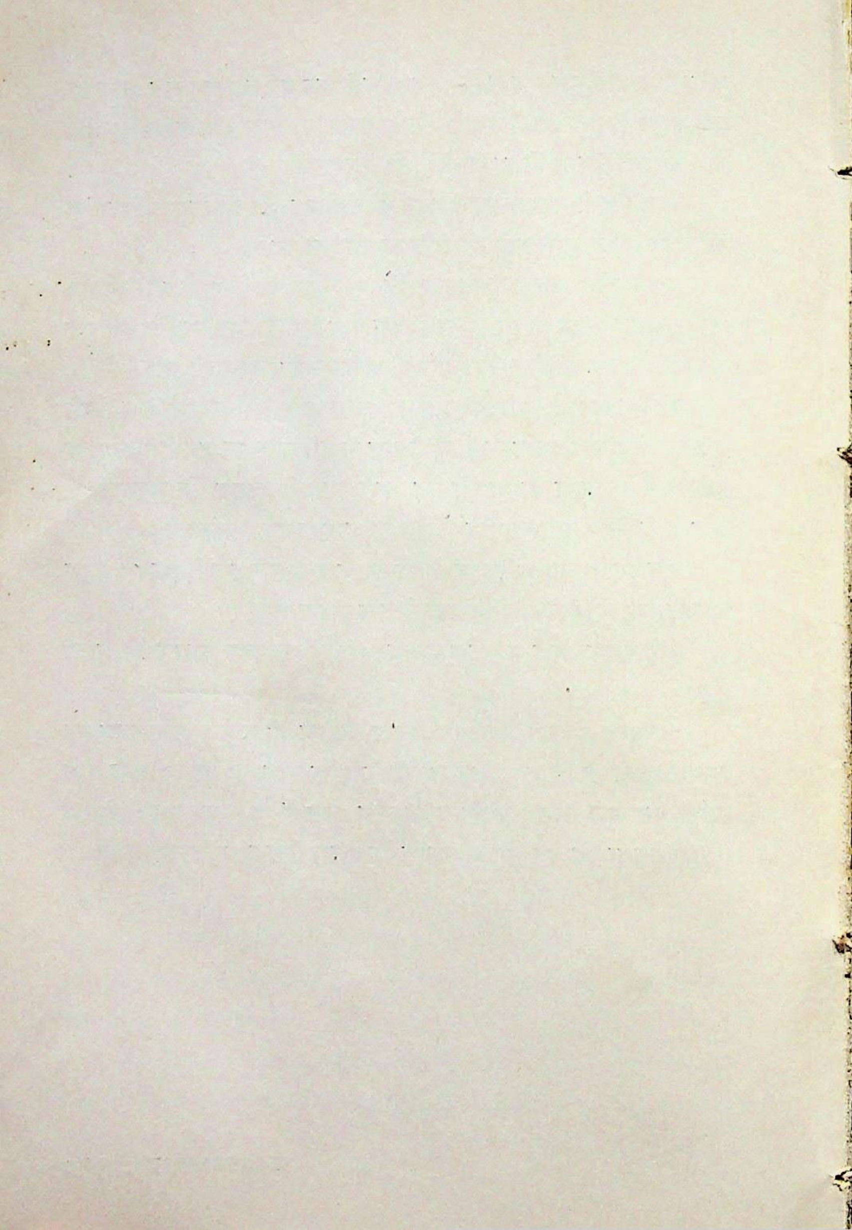
पर इस अनोखे गुणी विशेषज्ञ को न सम्मान की अकांक्षा है न किसी के प्रति क्षोभ या उपालम्भ! नैनीताल के सीमान्त पर बसे 'लौंगव्यू' के एकान्त में वह आज भी अपनी उस क्षयरोग की आमूल विध्वंसकारिणी औषधि के नित्य नवीन प्रयोग में वैसे ही आकण्ठ डूबा रहता है।

ऊँचे देवदारु-सा शरीर, अभी भी वय भार से नमित नहीं हुआ है, चाल में वही फुर्ती है और आँखों में वही विनम्र दीप्ति।

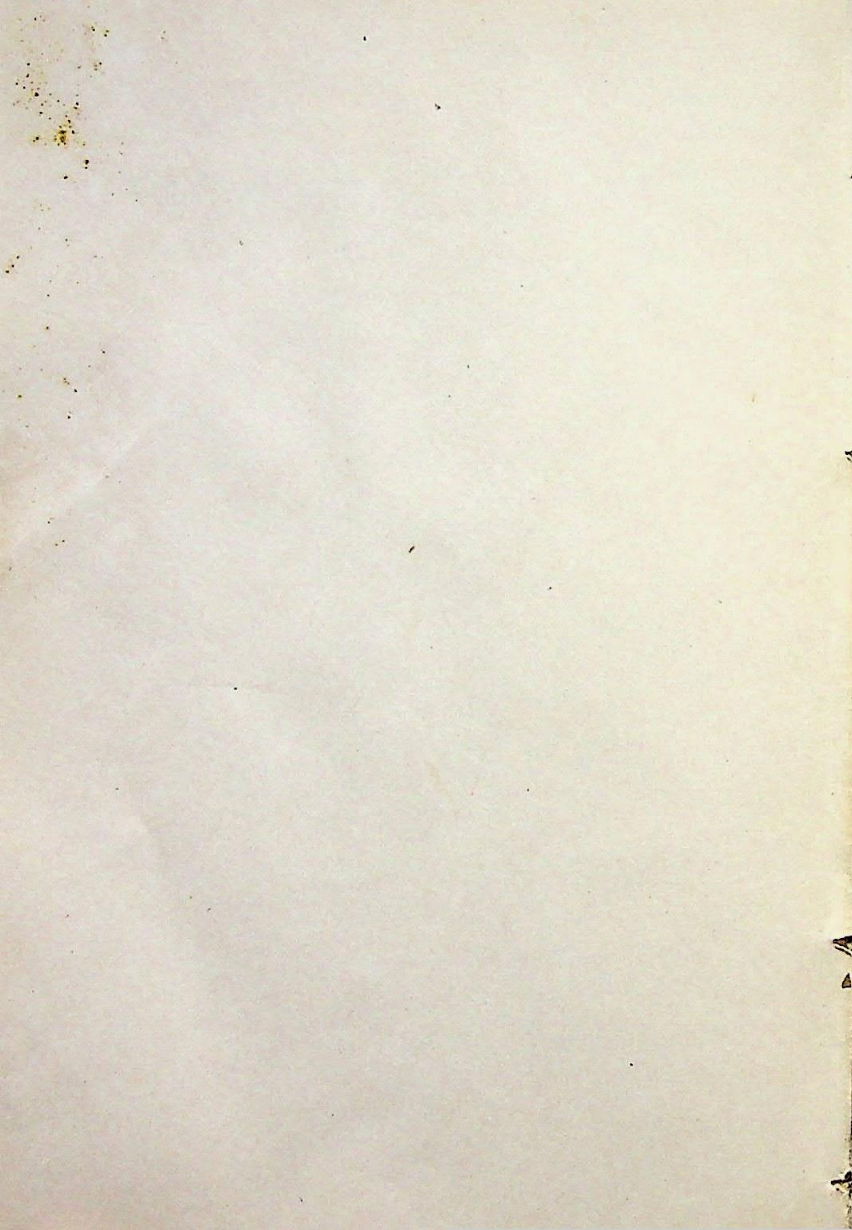
उन्हें देखकर मुझे अल्बर्ट श्वाइत्जर की पंक्तियों का स्मरण हो आता है।

"अत्यन्त गहरा चिन्तन, अत्यन्त विनम्र होता है। उसे केवल यह चिन्ता रहती है कि वह जिस लौ की रक्षा कर रहा है, वह तीव्र-से-तीव्र ऊष्मा और शुद्ध-से-शुद्ध आलोक के साथ जलती रहे। वह इसकी चिन्ता में नहीं पड़ता कि उस लौ का प्रकाश कितनी दूरी तक पहुँच रहा है।"

●



भूलो कहाँ हूँ ?



पण्डित जी का, गुरु रूप में परिचय, मेरे जीवन में एक श्रेष्ठ सम्पदा के रूप में सर्वदा संचित रहा है। अपने व्यक्तिगत सौभाग्य से मैं उस उदार-मना व्यक्तित्व के स्नेहमय साये में आठ वर्ष तक रही। आज जब उन आठ वर्षों के संस्मरण सँजोने बैठती हूँ तो सहसा, १९३५ के आश्रम-रंगमंच के रेशमी परदे स्वयं सरसरा कर उठ जाते हैं। आश्रम के 'खैलार माठ' से एक लाल सड़क के हाशिये से विभाजित दूसरा धूल-धूसरित मैदान था और उसी से लगी थी 'गुरुपल्ली'। एक ही कतार में ताड़-खजूर और मालती लता के साये में खड़े, एक नक्शे के बने, कच्ची मिट्टी की खपरैल से छाये मकानों में पहला मकान था बड़े पण्डित जी का, व्यक्तित्व में गृहस्वामी की ही भाँति सरल, छोटा-सा बरामदा फिर एक बरामदा, कोने में बिछा लकड़ी का तख्त, आलमारी में उसी विभिन्न आकार की पुस्तकों का स्तूपाकार गट्ठर, फिर एक बरामदा, आँगन और आँगन से ही लगी छोटी-सी कोठरी में बनी भाभी जी की सुरम्य रसोई, जहाँ से आती, उत्तर प्रदेशीय नथुनों से पूर्व-परिचित खाद्य-सामग्री की सुगन्ध-लपट, बंगाल के 'घण्ट', 'चड़चड़ी', 'कोपीर डालना' और 'आलू पटल' के सर्वथा नवीन अटपटे स्वाद की कसक को पलभर में धो-पोंछकर बहा देती। पण्डित जी के यहाँ तो हम उत्तर प्रदेशीय छात्राओं का अड्डा ही था। भूख लगी तो चल दीं। कभी भी समय-

असमय हमारा आक्रमण निरीह भाभी जी की रसोई पर होता और वे हँस कर हमारा स्वागत करतीं। गोरी बूटे-से क़द की आनन्दी भाभी जी, कभी मूड़ी का पूरा कनिस्तर ही उतारकर हमारे सम्मुख रख देतीं, सरसों के तेल में सनी, हरी मिर्च और कच्चे प्याज़ में बनी वह मूड़ी, सुरदुर्लभ पदार्थ लगती और देखते-ही-देखते वह पूरा कनिस्तर साफ़ हो जाता। धोती, ढीला कुरता और अण्डी की चादरधारी पण्डित जी दूर ही से पहचाने जाते। लम्बा क़द, न दुर्बल, न स्थूल, प्रशस्त माथा, आँखों में अनूठी चमक और अधरों पर, बात-बात पर उतर आनेवाली स्निग्ध हँसी।

उनके पढ़ाने का अपना अनूठा ढंग था। कभी-कभी अपने कट्टर गुरु जी की कहानियाँ सुनाते और कभी सामान्य-सी बूँदाबाँदी होने पर ही भीगने की छुट्टी कर देते। यह आश्रम की एक विशेष प्रकार की मौलिक छुट्टी होती थी, वर्षा होने पर कोई भी कक्षा अपने अध्यापक के साथ 'भीगने की छुट्टी' मनाने जा सकती थी। कभी अनिल चन्दा के साथ गाते, हो-हल्ला मचाते हम लोग 'श्रीनिकेतन' की ओर चले जाते :

'श्रावनेर गगनेर गाय, विद्युत चमकिया जाय,
क्षणे क्षणे, शर्वरी सिहरिया उठे हाय...'

शर्वरी सिहरे न सिहरे, समवेत कण्ठ स्वर से आश्रम की दिशाएँ अवश्य सिहर उठतीं।

पण्डित जी की कक्षा में, इस छुट्टी के अतिरिक्त, एक प्रकार की छुट्टी और भी होती थी, जब कभी कुछ चुने छात्र-छात्राओं को पण्डित जी के लिए ब्लेड, साबुन आदि लेने आश्रम की एकमात्र दूकान 'को-आपरेटिव स्टोर' तक भेजा जाता। लाने वाले के लिए समुचित पारिश्रमिक की भी व्यवस्था रहती, इसी से इस उदार प्रस्ताव को स्वीकार करने कभी-कभी पूरी कक्षा ही चल पड़ती। किन्तु प्रत्येक शान्त व्यक्ति की भाँति पण्डित जी का क्रोध भी बड़ा विकट होता था। एक बार हमारी कक्षा के एक अत्यन्त निरीह छात्र शरणप्रसाद को पण्डित जी ने पढ़ाते समय आँवले की गुठली

कड़काते पकड़ लिया। उन दिनों आश्रम में छात्र-छात्राओं के इस 'आमलकी भक्षण' से सभी अध्यापक परेशान थे। जिसे देखो वही आँवले की गुठलियाँ मुँह में भरे सुपारी-सी कुतर रहा है। एक-दो बार पण्डित जी कुछ अन्य छात्राओं को इस उद्दण्ड कुड़क-कुड़क के लिए डपट चुके थे—"तुम लोग यहाँ आँवला खाने आती हो या पढ़ने ? अब किसी को गुठली कड़काते देखा तो बाहर निकाल दूँगा—समझीं ?"

उन्होंने कहा था और समझने वालियाँ ख़ूब समझती थीं कि गरजने वाला यह निरीह मेघ कभी बरसता नहीं।

उस बार हमारी कक्षा का शरणप्रसाद, न जाने कैसे पकड़ में आ गया। "क्यों शरणप्रसाद", पण्डित जी का चेहरा तमतमा उठा, "कितनी दर्जन गुठलियाँ हैं मुँह में ? खोलो मुँह।" शरणप्रसाद ने भोले कहैन्या की भाँति मुँह खोलकर त्रैलोक्य-दर्शन करा दिये। स्पष्ट था कि गुठली बाजीगरी सफाई से जीभ के नीचे छिपा ली गई है।

"हूँ ?" पण्डितजी बोले, "हम क्या समझते नहीं, जीभ के नीचे छिपा ली है। खड़े रहो पूरा पीरियड। उसे देखो"—मेरी ओर उँगली दिखाकर उन्होंने कहा—"अभी नयी-नयी आयी है पहाड़ से, कैसे सिर झुकाए शान्त गऊ-सी बैठी रहती है, एक तुम हो, इतने दिनों से आश्रम में हो, पल भर सीधे नहीं बैठ सकते।"

उस सार्वजनिक सभा में अपनी प्रशंसा सुनकर मैं अपनी प्रसन्नता की गहबर, सहसा रोक नहीं पायी। ऐसी खाँसी उठी कि जीभ के नीचे बड़े छलबल से छिपायी गयी आँवले की गुठली, गोली-सी छिटक कर सीधी पण्डितजी की गोद में जा गिरी। पहले वे चौंके, फिर ठहाका मारकर ज़ोर से हँस पड़े।

उस उदार गुरु का वह राशिभूत अट्टहास, आज भी रह-रहकर मेरी स्मृति-प्राचीर में गूँज उठता है। कान उमेठकर लेखनी की सही पकड़ सिखाने वाले उस सहृदय गुरु के संस्मरण क्या एक-आध हैं ?

घटा तले हिन्दी कक्षा के मुट्ठी-भर छात्र-छात्राएँ पण्डितजी को घेरकर बैठे हैं। उन दिनों हमारे पाठ्यक्रम में 'सुन्दर काण्ड' था और पढ़ाते थे स्वयं पण्डितजी। अपनी अण्डी की चादर गुड़ी-मुड़ी कर लपेटे पण्डितजी हिल-हिलकर 'सुन्दर काण्ड' पढ़ाने लगते तो लगता कि पूछने को कुछ है ही नहीं। एक-एक दोहा, चौपाई उलझे तागे-सी स्वयं सुलझती जाती। लगता जैसे अवनीन्द्र ठाकुर की रोचक 'गल्पेर क्लास' का ही पीरियड चल रहा हो।

तब एक काव्य-संग्रह हमारे पाठ्यक्रम में था, उस पीरियड को भी पण्डितजी ही लेते, पर काव्य-संग्रह पढ़ाने में पण्डितजी को न जाने क्यों विशेष रुचि नहीं रहती। "क्या करोगी यह सब यहाँ पढ़कर, घर में पढ़ लेना।" एक दिन मैं पीछे पड़ गई, "घर पर भला कौन बैठा है पढ़ाने वाला, परीक्षा सिर पर आ गयी है; अब तो आप पढ़ा ही दीजिये।"

"मूरख कहीं की," बार-बार एक कविता का अर्थ समझा देने की ज़िद से पण्डितजी झल्लाकर बोले, "क्या धरा है इसमें समझाने को।"

मुझे आज भी वह कविता याद है और सोचती हूँ पण्डितजी भी नहीं भूले होंगे। कविता थी—

"कोकिल बोलो तो !
प्राणों में मधु घोलो तो···"

"अब कोकिल है," पण्डितजी बोले, "कौवा तो है नहीं जो काँव-काँव होगी ! कुहू-कुहू कर रही होगी, बस घुल गया होगा प्राणों में मधु, जाओ भागो—छुट्टी।" इस सहज, सजीव व्याख्या के पश्चात् भला कुछ पूछने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था ? कभी-कभी दस मिनिट पहले ही ऐसी अप्रत्याशित छुट्टी मिल जाती, पर कभी व्याकरण की कक्षा में अनुशासन की पतली जानलेवा रस्सी पर, किसी क्रूर नट पिता की ही भाँति पण्डितजी हमें चढ़ाकर एक-एक नपा-तुला क़दम रखना सिखाते थे।

"व्याकरण की क्लास में फाँकी देकर क्या कभी एक ढंग का निबन्ध भी

लिख पाओगी तुम लोग ? और यह गउरा", अचानक वे मुझ पर बरस पड़ते, "जितनी ही सीधी थी उतनी ही शैतान हो गई है। देखेंगे अब हम तुमको, एक दिन कान जऽड़ से उखाड़ कर रख देंगे। आज ही कहेंगे जयन्ती से,"—'जड़' के बीच एक विशेष भीड़-सी खींचकर पण्डितजी ऐसे सहमा देते, लगता कान सचमुच ही जड़ से उखाड़ा जा रहा है, पर कहना व्यर्थ है—न तो वह मुझे एक दिन देखने का कभी आया, कर्णद्वय अभी भी समूल सुरक्षित हैं और मेरी बड़ी बहन जयन्ती से मेरी शिकायत जड़ने की भयावह धमकी सदा कक्षा ही तक सीमित रही।

पाठ्यक्रम की पुस्तकों को ही पढ़ाने की पण्डित जी को विशेष चिन्ता नहीं रहती, वैसे कर्त्ता, कर्म, करण, अधिकरण की नीरस बारहखड़ी जिस महत् व्यक्तित्व ने बड़े परिश्रम से रटायी है—यह जब स्मरण करती हूं तो गर्व से फूलकर कुप्पा हो उठती हूँ।

कभी-कभी हमारी पूरी कक्षा को ही तारे निकलने पर, पण्डितजी के घर आने का निमंत्रण मिल जाता—"जाओ भागो सब, आज इस पीरियड को इस बेला नहीं पढ़ायेंगे, हमें गुरुदेव के पास जाना है, संझा को घर पर आना, वहीं पढ़ायेंगे।" पता नहीं इस युग के शिक्षाशास्त्री इस विचित्र शिक्षा-पद्धति के विषय में क्या कहेंगे, पर ऐसी सरस कक्षा, बोलता, चलता-फिरता पाठ्यक्रम और छात्र-छात्राओं की भीड़ को 'पाइड पाइपर' की सी जादुई वंशी-धुन से खींचे लिये जा रहे पण्डितजी ! क्या अनुशासनहीनता के इस युग में जहाँ प्रति वर्ष परीक्षा-भवन में उद्दण्ड छात्र-वर्ग, क्रुद्ध, बर्बर, आदिमयुगीन हृदय हीनता से, अनेक अध्यापकों को अपने अचूक भाले या छुरे का निशाना बना, समय से पूर्व ही अवकाशग्रहण करवा देते हैं, यह सब कुछ अविश्वसनीय नहीं लगता !

गुरु की परिभाषा शायद अब बदल गई है। पर लाख बदले, हमारी मोबाइलकक्षा की स्मृति कभी नहीं बदल सकती—'ली कार्बुजे', निर्मित, वर्ण-विन्यास की जटिल अभिरामतापूर्ण नगरी, चण्डीगढ़ में रहकर भी,

निश्चय ही नयी सभ्यता के विघटनकारी संस्पर्श से अछूती गुरुपल्ली के अपने उस कच्ची मिट्टी के आँगन में जुटी हमारी मुँह लगी कक्षा की भीड़ को नहीं भूले होंगे।...

एक-एक कर, आकाश के रहस्यमय सौरमण्डल से परिचय चलता। "वह रहा सप्तर्षि," सहसा एक ही अँगूठे की धुरी पर गोल घूमते पण्डितजी सप्तर्षि से परिचय कराने लगते।

"अरे, कहाँ हैं, पण्डितजी ?"

"अरे इस मूर्ख कुसुम को कुछ नहीं सूझता—देखती नहीं।"

फिर, आकाशगंगा की दुरूह पहेली सुगम हो उठती। आज जब मेरा पुत्र बहुमूल्य विदेशी यंत्रों से विभूषित नैनीताल की 'आब्ज़रवेटरी' से विराट आकाश की महिमा पहली बार देख मुझे अपनी पाण्डित्यपूर्ण दलीलों से प्रभावित करने की चेष्टा करता है तो मुझे हँसी आती है—'इतनी पावर-फुल दूरबीन है कि बस—' मैं कैसे उस नन्हें मस्तिष्क को समझाऊँ कि जिस शक्तिशाली दूरबीन से मैंने सौरमण्डल को देखा है, उससे वह कभी नहीं देख सकता।

पण्डितजी एक-एक तारे की महिमा समझाते जाते और आकाश के समग्र जगमगाते तारे, जैसे झुक-झुककर परिचित मित्र की भाँति मुसकराकर हमसे हाथ मिलाने लगते। न तब हमारे पास दूरबीन थी, न कोई यन्त्र। विचित्र आब्ज़रवेटरी का विचित्र संचालक था। केवल कण्ठनली टेप-रिकार्ड था और लम्बे-लम्बे हाथों को हिला-हिला कर समझाया गया सुगम रोचक पाठ। अचानक रात के खाने का घंटा बजता, आश्रम के प्रत्येक घण्टे का अपना अनोखा ही आरोह-अवरोह रहता। एक-दो-तीन-चार-पाँच—बीते समय का ध्यान आता और हम भोजनालय की ओर भागते।

दूसरे दिन व्याकरण का पीरियड है। आज पण्डितजी गुरुदेव का नया लिखा उपन्यास 'चार अध्याय' ले आये हैं। कई दिनों तक पढ़-पढ़कर पण्डितजी हमें सुनाते रहे। मौलसिरी के विराट वृक्ष की छाया में एक बार

पण्डितजी गुरुदेव की उन पर लिखी गई पंक्ति 'डेके आनो बालुकडांगार पण्डित हजारीप्रसाद के' को पढ़कर बड़ी देर तक हँसते रहे थे। उनकी इसी हंसी के विषय में मुझे कुछ कहना है। जैसे मुक्ता को गुणी जौहरी नेचुरल और कल्चर्ड की परिभाषा में बाँधकर रख देते हैं—हँसी को भी इसी माप-दण्ड से मापा जा सकता है। कल्चर्ड पर्ल की बनावटी लालिमा की ही भाँति कल्चर्ड हँसी का पानी भी मुझे छिछला लगता है। किसी विदेशी चलचित्र के जटिल परिहास को न ग्रहण कर पाने पर भी, कण्ठ से ज़बरन खींचकर निकाली गई हँसी, जो सबकी हँसी बन्द हो जाने पर भी बड़ी देर तक हॉल में गूँजती रहती है, ऐसी ही कल्चर्ड हँसी है।

पर एक दूसरी ही हँसी होती है—असली पानीदार मोती की दमक से स्वयं दमकती और दूसरे को दमकाती, दिशाएँ गुँजाती, रोड़े-पत्थर ठेलती, पहाड़ी झरने-सी सरस जलधार जो पास खड़े लोगों को भिगोती चली जाती है—ऐसी ही हँसी थी पण्डितजी की। हो सकता है अब बदल गई हो, पर ऐसी हँसी बदलती कम है। पण्डितजी हिलते तो पूरा शरीर हिलने लगता। आश्रम में गज़-गज़ की दूरी पर असंख्य कथाएँ बिखरी रहतीं। पण्डित जी हँसने लगते, और सब मुड़कर देखने लगते। एक ही रस्सी में बँधी कई घण्टियाँ, एक साथ खनकने लगतीं।

"क्यों जी कमला, कल बड़े सवेरे तुम्हारा भाई संकट लाल लंगोट लगाये डण्ड पेल रहा था।" अचानक अपनी छात्रा के लाल लंगोटधारी डण्ड-प्रेमी सहोदर की स्मृति पण्डितजी को गुदगुदा जाती और वे एक ठहाका लगाकर हँस उठते।

एक बार पण्डितजी ने बड़ी-सी दाढ़ी रख ली थी। बस फिर क्या था—पूरी कक्षा उनके पीछे पड़ गई। "छि-छिः पण्डितजी! एकदम जोगी बाबा लग रहे हैं आप। कटवानी ही होगी दाढ़ी।" पण्डितजी बराबर कहते कि "कुछ फुड़ियाँ निकल गई हैं, इसी से दाढ़ी बढ़ा ली है, कोई शौक़ से थोड़े ही पाली है।" पर उनकी कौन सुनता? आज अपनी बचकानी ज़िद

पर हँसी भी आती है।

अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक ख्याति के उस विद्वान् गुरु की कैसी मुँहलगी कक्षा थी हमारी—कभी साबुन-ब्लेड के मूल्य से भी अधिक बड़ी बेईमानी से वसूल किया गया कमीशन। कभी दाढ़ी कटवाने की जिद, कभी अकारण ही सामान्य-सी बूंदाबाँदी का बहाना बनाकर माँगी गई छुट्टी।

कुछ वर्ष पहले, अपने क्षणिक प्रयाग-प्रवास के बीच भी समय निकालकर पण्डितजी मुझसे मिलने आये। वही परिचित स्नेहस्निग्ध हँसी, वही मोटे होर्नरिम का चश्मा और ढीला कुरता—बस नहीं थी तो अण्डी की चादर और शायद उसी के बिना मेरा रेखाचित्र अधूरा-सा बुना जा रहा है।

एक बार पण्डितजी ने मुझे लिखा था—"तुम्हारी पुस्तिका मिली, पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। शान्तिनिकेतन का उन दिनों का तुमने ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि कई दिनों तक उन स्मृतियों से पीछा नहीं छूटा। उस छोटी-सी पुस्तिका में शान्तिनिकेतन जितना सजीव हुआ है, उतना बड़े-बड़े पोथों में नहीं हो पाया। तुममें छोटी-छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण आत्मीयता व्यंजक बातों के द्वारा सम्पूर्ण को जीवन्त बनाने की बड़ी क्षमता है।"

उक्त पुस्तिका मैंने एक परिचित प्रकाशक के विशेष आग्रह पर लिखी थी—साथ में प्रकाशक ने एक लुभावनी पुरस्कार योजना की भी घोषणा की थी। सौभाग्य से पुरस्कार मुझे नहीं मिला पर अपने गुरु द्वारा प्रदत्त, प्रशंसा का यह अनूठा कोहेनूर, मेरी साहित्यिक मंजूषा का सबसे जगमगाता रत्न है।

उसी दिन से मेरी लेखनी एक ऐसे गहन वन में वनमृगी-सी निर्भीक छलाँगे लगाने लगी है जहाँ उसे क्रूर से क्रूर व्याध के बाणों का भी भय नहीं रहा है। पर आज सब संस्मरणों की पोटली खोलकर लिखने बैठी हूँ तो सम्पूर्ण को जीवन्त बनाने की 'क्षमता' सहसा खो बैठी हूँ। 'गुरुशापात् स्मृति-भ्रष्टा' का-सा आभास हो रहा है।

पण्डितजी के बहुरूपी व्यक्तित्व की कई रंगीन स्लाइडें एक-एक कर उभर आती हैं—

हिलहिलकर सुन्दर-काण्ड पढ़ाते पण्डित जी !

संकट के लाल लंगोट की स्मृति पर ठहाका लगाते पण्डित जी !

'जऽड़' से कान उखाड़ने की धमकी देते पण्डितजी !

दाढ़ी बढ़ाये, अण्डी की चादर लपेटे मिट्टी के आँगन मे गोल-गोल पैर के अंगूठे की धुरी पर घूमते आकाश के अतिथियों से परिचय कराते पण्डित-जी और अन्त में—कार से उतरते रेशमी कुरते और धोती में पहले से कुछ-कुछ बदले पण्डितजी—क्यों फ़ोकस बार-बार बिगड़ जाता है ? अच्छे चित्र के लिए कलाकार बैकग्राउण्ड को बड़ा महत्त्व देते हैं। चित्र बने भी कैसे ? एक बार भी यदि पण्डितजी फिर उसी कच्चे मकान के आँगन में खड़े हो सकते। गुड़ी-गुड़ी कर ओढ़ी गयी चादर, ढीला कुरता और काँख में दबा 'विश्वभारती' का नारंगी रजिस्टर—एक बार भी यदि गरज-कर कह सकते—"देख लेंगे तुमको एक दिन—कान जऽड़ से उखाड़कर रख देंगे'...

तब शायद फिर सम्पूर्ण को जीवन्त बनाने की क्षमता पा लेती !

एक बार पूज्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने मेरे एक पत्र के उत्तर में लिखा था :

अपनी पुरानी छात्र-मण्डली को कभी भूल सकता हूँ। मेरे सामने तुम सब छोटी-छोटी छात्राओं के रूप में उसी प्रकार साकार हो। तुम लोगों को कैसे भूल सकता हूँ ! कामकाज में भूलकर भूलना भी कोई भूलना है। गुरुदेव ने लिखा था—

'अन्यमने चलि पथे
भूलि ने कि फूल
भूलि ने की तारा
तबुओ ताहारा

प्राणेर निःश्वास वायु करे सुमधुर
भूलेर शून्यता माँझे भरि ये सुर
भूले थाका, नय शे ते भोला—'

'अन्यमनस्क पथिक यदि राह चलते, तारों और खिले फूलों को नहीं देख पाता तो क्या उन्हें भूल जाता है ? वे ही तो उसके प्राणों की निःश्वास वायु को सुमधुर बनाते हैं। भूलने की शून्यता में वही तो स्वर भर देते हैं। इसे भला भूलना कहते हैं ?'

गुरुपल्ली की मीठी स्मृति भी मेरे प्राणों की निःश्वास वायु को चिरन्तन माधुर्य से भरती, भूलने की शून्यता में मीठे स्वर भरती रहेगी और इसी से मैं भी कहती हूँ—

भूली कहाँ हूँ ?

ताजमहल, अमरूद या भाभी

बहुत वर्षों से बिछुड़ी, अपनी एक पंजाबी सहपाठिनी से, उस दिन अचानक मेट्रोपोल के पास भेंट हो गयी। मैंने तो पहचाना भी नहीं, उसी ने लपककर दोनों हाथ झकझोर दिये। जिसके साथ, कई वर्ष हॉस्टल के एक ही कमरे में बिताये थे, बिना झिझक उसकी साड़ियाँ पहनी थीं, लड़ी थी, झगड़ी थी। उसी को अचानक ऐसे देखकर मैं चेष्टा करने पर भी झिझक की क़ेंचुली नहीं उतार पायी। शायद अत्याधुनिक सज्जा में सँवरी, उसकी सहचरी की उपस्थिति से ही मैं अस्वाभाविक रूप में नम्र हो उठी थी, 'अरे आप यहाँ कैसे ?' मैंने कहा।

'अच्छा, मैं भला आप कब से हो गयी ?' उसने हँसकर उस विदेशिनी, सी दिखने वाली छरहरे शरीर की सुन्दरी को मेरी ओर धकेल दिया, 'लो पहले इससे मिलो, मेरी भाभी, चाँद भैया की बहू।'

परिचय के साथ ही चाँद की चन्द्रिका ने मेरी ओर कुल्हाड़ी चलाने की मुद्रा में एक रूखा-सा नमस्कार मार दिया।

वही नन्हा-सा सर्दार चाँद, जो प्रायः ही ख़स्ता मट्ठियाँ और शलजम का 'भाइयों वाला अचार' लेकर अपनी बहन से मिलने हॉस्टल आता और अपने छोटे-से जटाजूट और वंशी से गले के स्वर के जादू से, हॉस्टल वासि-नियों का मन मोहता रहता। उसी चाँद की ऐसी ठसकेदार बहू ? 'क्या भूल गयी चाँद को ?' मनजीत ने पूछा।

'भूलूंगी क्यों?' पर मनजीत की भाभी को देख, सहम अवश्य गयी थी।

मुझे लगा, मनजीत की भाभी ही नहीं, भारत की भाभी की ही संपूर्ण सरस व्याख्या का रूपान्तर हो गया है। कहाँ गयीं वे भाभियाँ, जो ननद, देवर को अपनी ठिठोली से सराबोर कर देती थीं ? होली की आगमनी को रसीले देवर को गोबर की गुझिया खिला, चेहरा कोलतार के रंग से रँग लंगूर बनाकर धन्य करने वाली भाभी क्या सचमुच नहीं रहीं !

आज की 'हाइब्राउ' भाभी भला ऐसे सस्ते मज़ाक करने की धृष्टता कर सकती हैं ?

कहाँ गयीं वे भाभियाँ जिनकी उपस्थिति फागुनी बयार के हर झोंके में अबीर गुलाल की चुटकियाँ छोड़ देती थीं, जिनकी रसवन्ती मूर्ति को केंद्रित कर होली की काफी का प्रत्येक सम, साकार होकर गूँज उठता था :

'आपनो वीरन मोहे दे री ननदिया
मैं होली खेलन
जाऊँ वृन्दावन'

भाभी का यह स्नेही वात्सल्यमय आनन्दी व्यक्तित्व क्या सचमुच ही विलुप्त होता जा रहा है। इस विचारणीय प्रश्न को सुलझाने के प्रयत्न में कई उलझी गुत्थियों का जाल बिखर उठता है। जिस सदियों पुराने पेड़ की जड़ में ही घुन लग गया है, उसकी शाखा-प्रशाखाएं भला कैसे पनप सकती हैं। आज कितने गृहों में सफ़ेद सन से केश और पोपले दाँतों की महिमा बची रह गई है। क्या आज हमारे गृहों के शासन की सत्ता, अनुभवी दादी-नानियों के हाथ में रह गयी है ?

लगता है संयुक्त परिवारों की टूटी प्राचीरों के नीचे, हमारी प्राचीन संस्कृति की अमूल्य निधि, दबकर मूल्यहीन मलबा बनती जा रही है और किसी को इसकी चिन्ता नहीं है। यहाँ तक कि संस्कार गीतों के आरम्भ में भी पहले की भाँति, बन्ने के ताऊ 'हजारी' का कहीं उल्लेख नहीं रहता, अब तो 'बन्ना मेरा मचला है मोटर लेगा' और मोटर के साथ-साथ श्वसुर के

प्राण लेने वाले इस नवीन बन्ने ने भी भाभी का महत्त्व भुला दिया है। अब बारात चलते समय, कोई भूली-भटकी भाभी यदि देवर की आँखों में काजल लगाने की धृष्टता करेगी भी, तो मुँह की ही खायेगी, फिर जो भाभियाँ स्वयं ही काजल की महिमा भूल, 'आइब्राउ' पेन्सिल से खंजन नयन बना लेती हैं वे भला दूसरे की आँखों में क्या काजल लगायेंगी। अब तो सूरदास की पंक्ति 'अंजन थिर न रहत अँखियन में' की व्याख्या का प्रश्न ही नहीं उठता।

भाभी! कितना नन्हा-सा सम्बोधन पर कितनी विशद व्यापक व्याख्या का भार समेट लेता है यह! वात्सल्य में स्वयं जननी, किन्तु जहाँ जननी की उपस्थिति में भी प्रत्येक रहस्य निस्संकोच होकर नहीं उगला जा सकता, वहीं पर समवयस्का हो या बड़ी, भाभी ही स्वयं ऐसे अवसरों पर प्रिय सखी, सहोदरा और सचिव का पद ग्रहण कर लेती है। वैसे लोकगीतों में 'वैरिन ननदिया' या 'भाभी हमारी जन्मों की वैरन' का उल्लेख मिलता है। पर मुझे तो अब भी इससे मीठा सम्बोधन और कोई नहीं लगता।

आज इसी विलुप्तप्रायः सम्बोधन के साथ-साथ एक विस्मृत धुँधली आकृति बार-बार मेरी लेखनी पकड़ रही है।

भव्य गाम्भीर्य मण्डित गौर मुख-मण्डल रेशमी पलकों से ढँकी बड़ी आँखें, जिनका सौन्दर्य बहुत मोटे फ्रेम का चश्मा भी अन्त तक नहीं हर पाया मँझोला क़द और आकर्षक व्यक्तित्व। वैसे यदि देखा जाए तो चेहरे की बनावट में असाधारण कुछ भी नहीं था। किन्तु प्रशस्त गौर ललाट की दमक आँखों में गहन आध्यात्मिक मनन-पठन की दीप्ति और संयमित भाषण बरबस ही देखनेवाले को उनकी ओर आकृष्ट कर लेता था।

स्वर्गीया शोभा भाभी का वही बंगला आज सोलह वर्ष पश्चात् देखकर लौटी हूँ, जि :में उनके साथ बिताये तीन वर्षों की सुखद स्मृतियों ने पहाड़ी बिच्छूबूटी की-सी झपक मार, मुझे व्याकुल कर दिया।

बहुत वर्षों बाद, बिछुड़े आवास से पुनर्मिलन भी एक विचित्र अनुभव

है। शायद ही कोई ऐसा पुच्छविषाणहीन जीव होता होगा जिसे, पूर्व स्मृतियाँ भूले बन्धु की भाँति गले न लिपट जाती हों। यह वही कोना था जहाँ तख़्त के पास एक बड़ा-सा पीतल का फूलदान रखा रहता था। इसी तख़्त पर बैठकर उन्होंने मुझे यम-नचिकेता संवाद की व्याख्या समझायी थी, तब शायद उस संवाद की महिमा ग्रहण करने की उमर नहीं थी, अब समझने का अवसर आया, तो स्वयं समझाने वाली नहीं रहीं। उनके बृहत् स्तूपाकार 'उपनिषद' और 'कल्याण' के धर्मग्रन्थों को दिखाकर गोविन्द ने कहा, 'देख ले, अब तेरी भाभी के बिना यह घर कैसा लगता है'। चेष्टा कर दबाये गए उनके कंठ के गह्वर ने उनके कथन को कँपा दिया था। गुणीजन कहते हैं कि वैधव्य से बड़ा दुःख और कुछ भी नहीं है किन्तु वयस्क विधुर की व्यथा भी निश्चय ही कभी-कभी असह्य हो उठती होगी, फिर ऐसी सहचरी का वियोग जो निश्चय ही सामान्य नारी वर्ग से भिन्न थी।

शोभा भाभी को जब मैंने पहली बार देखा, तो उनके असाधारण व्यक्तित्व ने मुझे बेहद प्रभावित किया था। उनका गोरा गुलाबी रंग, जिस पर क्रीम पाउडर तो दूर शायद साबुन भी यदा-कदा ही लग पाता था, आश्चर्यजनक रूप से चिकना था। रंग के बाद उनका दूसरा आकर्षण था उनका संयमित हास्य। उनके दो दाँतों के बीच तनिक-सी दरार थी और शायद इसी दरार को छिपाने को वे बहुत कम हँसती थीं। वैसे भी मैंने उन्हें ऊँचे स्वर में बोलते कभी नहीं सुना। बाल सँवारने का भी उन्हें कोई विशेष ध्यान नहीं रहता था। यह उन दिनों की बात है जब देविका रानी, साधना बोस और जमुना की केश-सज्जा बड़े दुःसाहस से पहाड़ के संस्कारी गृहों में प्रवेश कर चुकी थी और गोल तिकोनी पत्तियाँ या एकआध बिखरी, प्रश्न के चिह्न-सी अलकें पहाड़ी सरल चेहरों को भी संवारने लगी थीं। न भाभी को पहनने-ओढ़ने में रुचि थी, न बनने-सँवरने में। वैसे भी जिन स्त्रियों के पास सौन्दर्य का पर्याप्त मूलधन रहता है, उनको बनने-सँवरने में कम ही रुचि रहती है। अधिकांश सुन्दरी, आकर्षक महिलाएँ, साज-सज्जा से उदा-

सीन ही रहती हैं और जिन्हें सौन्दर्यदान में विधाता उतनी उदारता नहीं दिखाता, वे बेचारियाँ ही अपने एक नूर के व्यक्तित्व को सजधज से कभी-कभी सौ नूर का बनाने में सफल हो जाती हैं। शायद यही कारण था कि शोभा भाभी, पहनने-ओढ़ने में कभी-कभी आवश्यकता से अधिक उदासीन हो जातीं। साड़ी कहीं जा रही है आँचल कहीं, कभी रंग उड़ा शाल ओढ़ लेंगी, तो कभी पति का मर्दाना स्वेटर ही पहनकर चल पड़ेंगी ! पर उनके जिस दूसरे सजे-सँवरे व्यक्तित्व से मेरा परिचय था, उसकी प्रौढ़ सज्जा में कहीं कोई त्रुटि नहीं थी।

जहाँ तक डिग्री का प्रश्न था, उनके पास कोई डिग्री नहीं थी, किन्तु मैं सोचती हूँ अब भी पहाड़ में उन जैसी विदुषी महिलाएँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। उन्होंने स्वान्तःसुखाय ही कठोपनिषद की व्याख्या लिखी थी और गीता-पाठ तो उनका नित्य का नियम था। न उस पाठ में किसी को प्रभावित करने की चेष्टा रहती, न बाह्याडम्बर का ढोंग। लकड़ी की एक लम्बी अलमारी में उनके धर्मग्रंथ सजे रहते, जब भी जाती उन्हें किसी न किसी मोटी-सी पुस्तक में ध्यानमग्न ही पाती। आये दिन एक न एक जटा-जूटधारी बाबा उनके आँगन में चिमटा गाड़ देता। मैं कभी-कभी उन्हें छेड़ भी देती, 'ऐसे सण्डमुसण्डों को क्यों बेकार में फलदूध से मोटा, कर रही हो, भाभी ? क्या तुम सोचती हो ये मानवता का कुछ उपकार करते हैं ?' 'तुम नहीं जानतीं', उनकी उदार आँखों में मेरे अबोध अज्ञानान्धकार से घिरे चित्त के प्रति सहानुभूति छलकने लगती और वे मुझे बीसियों उदाहरण दे डालतीं। कैसे एक सिद्ध बाबा ने उनकी उपस्थिति मात्र से ही एक बार जान लिया था कि वे बड़ी अनिच्छा से आयी हैं और एक दूसरे बाबा ने तो उन्हें ननके पुत्र सुधीर की भावी बीमारी की पूर्व-सूचना देकर चैतन्य कर दिया था। मुझे उनकी अटूट निष्ठा और सरल विश्वास के विरुद्ध फिर कुछ कहने का साहस नहीं होता।

स्वभाव से ही सन्त भाभी, स्त्रियों की बतकही से सदा दूर रहतीं और

स्त्रियों की दृष्टि में यह नारी का ऐसा अस्वाभाविक दोष है, जिसके लिए उसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। वह भी भला कैसी नारी है, जो अपनी चटपटी बातों से किसी परिचित अनुपस्थिता महिला की गर्दन पर छुरी नहीं फेरती। बुरा न देखना, बुरा न सुनना, बुरा न कहना यह एक संसारी स्त्री की दृष्टि में गान्धीजी के बन्दरों का गुण है नारी का नहीं। इसीसे प्रायः ही सुनने में आता 'शोभा बड़ी घुन्नी है, घमण्डी है एक नम्बर की' भाभी कभी-कभी बौखला जातीं। प्रत्येक शान्त व्यक्ति की भाँति उनका क्रोध भी विकट होता था पर मैं देखती जब ऐसा अवसर आता वे मौन धर लेतीं। 'क्रोध की इससे बढ़िया औषधि और कुछ नहीं है' वे कहतीं। घर की सबसे बड़ी बहू थीं और एक लम्बे अरसे तक मैं उनके साथ रही पर मैंने उन के मुँह से परिवार के किसी सदस्य के लिए कभी अपशब्द नहीं सुना।

प्रायः ही, उनके बंगले में एक से एक कट्टर सनातनी अतिथि, बिना पूर्व-सूचना के ही आते रहते पर मैंने कभी उन्हें बौखलाते नहीं देखा।

'जिस घर से अतिथि असन्तुष्ट होकर लौट जाये, वहाँ सुख-शान्ति नहीं रहती' वे कहती थीं। अब कभी अप्रत्याशित अतिथि द्वार पर खड़ा हो जाता है, तो उन्हीं की सीख याद हो आती है। किन्तु एक क्षेत्र में भाभी कोरी ही थीं और वह भी गृहस्थी का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र— रसोई। यही उनकी दुर्बलता थी, कढ़ी चूल्हे पर चढ़ी है और भाभी वैराग्यशतक में डूबी बैठी हैं। उनके और मेरे बीच एक द्वार का व्यवधान था, वह भी खुला ही रहता। जलांध की दुर्गन्ध पा कर मैं लपकती, 'कढ़ी जलकर ख़ाक हो गयी है। भाभी', मैं कहती तो वे चौंककर खिसियाये स्वर में कहतीं—'क्या करूँ, यही काम मुझ से नहीं होता' होता भी कैसे, गीता और उपनिषद का छौंक देकर बघारी गयी आध्यात्मिक कढ़ी क्या सब को अच्छी लगती है ? किन्तु जहाँ तक पतिव्रता का कठोर कर्त्तव्य निभाने का प्रश्न था, मैं सोचती हूँ आज की भाभियाँ उनसे बहुत कुछ सीख सकती थीं। कभी-कभी उनके पति दिन डूबे लौटते और वे दिन भर भूखी उनका खाना लिये बैठी रहतीं।

लौटने पर पति की सुदीर्घ सन्ध्या प्रायः एक घंटा ले लेती, पर वे निर्विकार भाव से हीटर पर खाना गर्म करतीं, उन्हें यत्न से खिलातीं और अन्त में स्वयं खातीं। उनकी सहनशीलता ने मुझे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाया। उनकी इसी अटूट निष्ठा से प्रसन्न हो, सम्भवतः विधाता ने उन्हें नारी के सर्वोच्च पदक से विभूषित किया। उनके मरणोपरान्त का परमवीरचक्र था उनकी माँग का सिन्दूर।

उनकी अन्तिम अवस्था जान कर मैं भारी मन से उनसे मिलने गयी। रामज़े अस्पताल के स्वच्छ कक्ष में स्टील के पलंग पर सौन्दर्य का खण्डहर पड़ा था। असाध्य रोग की दारुण व्यथा ने गुलाबी रंग को बैंजनी बना दिया था। दोनों हाथों से मेरा हाथ पकड़कर दबा-भर दिया था। पर वह स्नेही क्षणिक स्पर्श पल भर में बहुत कुछ कह गया—'देख रही हो न मेरा सौभाग्य ? तुम्हारे भाई सिरहाने बैठे हैं। अब मुझे मृत्यु का भय नहीं है। जब बुलावा आयेगा, चल दूंगी। तैयार होने में देर नहीं लगेगी।'

उन्हें तैयार होने में देर लगती ही कब थी ?

मैं प्रायः ही उन्हें नये-नये बने बिड़ला विद्या मन्दिर के उत्सवों में साथ चलने को मनाती।

तैयार होने की कहती तो घर ही की धुली साड़ी पहन, चटपट शाल डालकर तैयार हो जातीं। आज की भाभी की सज्जा भी क्या निमेष-भर में ऐसे ही पूरी हो जाती है ? बहुत पहले कहीं एक चुटकुला सुना था।

एक भ्रमण-प्रेमी व्यक्ति पूरे भारत की परिक्रमा करने निकला, साथ में थी एक डायरी और एक पेन्सिल।

पहले पहुँचा आगरा। लोगों से पूछा, "भाई यहाँ की क्या वस्तु दर्शनीय है ?"

लोगों ने कहा, "ताजमहल।"

चट उसने डायरी निकाली और लिख लिया, "ताजमहल।"

फिर पहुँचा दिल्ली। पूछा, "भाई, यहाँ यह सड़क पर कौन-सी बड़ी

सजी-धजी इमारत चली जा रही है।"

लोगों ने हँसकर कहा, "हाथी।"

उसने फिर लिख लिया, "हाथी।"

अब पहुँचा इलाहाबाद, वहाँ उसने पहुँचते ही सफ़ेदा अमरूद चख लिया था इसीसे किसी से कुछ न पूछ कर स्वयं ही लिख लिया, "अमरूद।"

बहुत दिनों बाद, घूमघाम कर अपने गाँव पहुँचा और डायरी सहेज कर रख दी। एक दिन, कहीं से एक हाथी घूमता-घामता उसके गाँव में भी आ पहुँचा।

लोग बड़े चकराये। पहाड़ का गाँव, किसी ने हाथी देखा ही नहीं था। मुखिया ने कहा, "जाओ फ़लाँ को बुलाकर पूछो, वही अभी हिन्दुस्तान का चक्कर लगा कर लौटा है।"

परिव्राजक ने अपनी कापी निकाली और हँस कर बोला, "अभी बताता हूँ।"

पर वहाँ तो केवल तीन चीज़ें लिखी थीं। ताजमहल, अमरूद और हाथी।

वह बड़े असमंजस में पड़ गया। एक बार फिर पृष्ठ पलटा और एक लम्बी साँस खींचकर बोला, "भाइयो, या तो यह ताजमहल है या अमरूद है या फिर हाथी है।"

आज जब हरे चूड़ीदार अण्टीशण्टी हरी कमीज़ और पारदर्शी चुन्नी में, रँगे ओंठ और तीक्ष्ण नखों की स्वामिनी, मनजीत की भाभी को देखती हूँ तो अपनी स्मृति के पीले पन्नों की डायरी खोलनी पड़ती है।

कुछ ही दिन पूर्व गोविन्दा-दा की मेज़ पर धरी शोभा भाभी की बड़ी-सी तसवीर उभर आती है।

शान्त गम्भीर चेहरा, मदीने की साड़ी की मखमली बेल का नन्हा-सा घूंघट, छोटे से पायदान पर दोनों पैर धर कर तसवीर खिंचवायी है भाभी ने। न ओंठों में रंग है, न वेशभूषा में विलास का स्पर्श।

बड़ी चेष्टा से शायद फ़ोटोग्राफर के कई बार कहने पर सलज्ज दृष्टि उठाकर सहम-सी गयी है। उसी सहमी दृष्टि को सदा के लिए बन्दी बना दिया गया है।

और फिर यह दूसरा चित्र, इस युग की भाभी का नवीनतम संस्करण। सिर से पैर तक हरी, एच-बी० पेन्सिल-सी सतर देह ताने अकड़ी-दम्भी आधुनिका। एक लम्बी साँस खींचकर मैं भी कहती हूँ—या तो यह ताज-महल है या अमरूद है या फिर भाभी है।

कोयलिया मत कर पुकार



आज से कोई तीस वर्ष पूर्व की एक मेघाच्छन्न श्रावणी संध्या, स्मृति-पटल पर उतर आती है। महाराजा ओरछा का दरबार-हाल, मख़मली सोफ़े पर बैठे स्वयं महाराज, उनका परिवार, मित्र। हाथी-दाँत की मेज़ पर धरा ग्रामोफ़ोन और उस पर बज रहा बेगम अख़्तर का, तब एकदम ताज़ा रिकार्ड—"छा रही काली घटा जिया मेरा लहराये है।" उस जादुई कंठ में लहराती 'देश' की वह अनूठी बंदिश आकाश की काली घटा को जैसे सचमुच ही उस राजसी कक्ष में खींच कर, श्रोताओं को रससिक्त कर गई थी। कैसी तड़प थी उस आवाज़ में, कैसी टीस! "बेवफ़ा से दिल लगा-कर क्या कोई फल पाये है।"

यह मेरा सौभाग्य है कि जिस जादुई कंठ की स्वरलहरी ने मुझे तीस वर्ष पूर्व मंत्रमुग्ध किया था, उस कंठ का आकर्षण आज भी मेरे लिए वैसा ही बना मेरी लेखनी को गतिशील बना रहा है। जहाँ तक ग़ज़ल, ठुमरी एवं दादरा का प्रश्न है, स्वर-लय की ऐसी उत्कृष्ट, संपन्न गायकी का परिचय अन्य कोई भी गायिका, शायद आज तक नहीं दे सकी है। ऐसी सहज स्वाभाविकता, स्वर-लय का ऐसा अपूर्व समन्वय सर्वोपरि उनके कंठ की एक सर्वथा निजी मौलिकता, प्रस्तुतीकरण के बीच स्वयं ही आकर छिटक गया, एक मीठी टहूक-सा स्वरभंग जो शायद अन्य किसी भी गायक

या गायिका के लिए, उसकी गायकी का दोष बन सकता था, उनकी गायकी का एक अनूठा नगीना बन गया है।

महाराष्ट्र के, श्री वामनराव देशपांडे, भारत के प्रसिद्ध संगीतविद् हैं, उन्होंने स्वयं, विधिवत् ग्वालियर, किराना, एवं जयपुर तीनों घरानों की संगीत शिक्षा प्राप्त की है। उनके मतानुसार पटियाला घराने का स्थान, जयपुर एवं किराना के मध्य स्थित है। किराना की विशिष्टता है, सामान्य सा नक्की स्वर, साथ ही आवाज़ में एक विचित्र-सी खुरदरी ख़राश, जिसका अपना एक निजी आकर्षण रहता है। स्वर की यह मिठास, किसी रेशमी नाज़ुक तागे की भाँति खिचती, और सुनने वालों को भी साथ-साथ खींचती चली जाती है—यह रेशमी डोर, जिस अनूठी क़शीदाकारी का जाल बिखेरती चली जाती है, उससे बँधा श्रोता, सब कुछ भूल-बिसर कर रह जाता है। उधर जयपुर घराने को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ माना है—किसी सुदक्ष भास्कर की गढ़ी मूर्ति-सा ही दोषरहित। स्वर-लय का सुठाम सामंजस्य, विकास की छंदमयी गति और मनोरंजकता इस गायकी के विशिष्ट अंग हैं। बेगम अख़्तर की गायकी पर इन तीनों घरानों की गायकी की सुस्पष्ट छाप है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि उनके गुरु थे पटियाला के प्रसिद्ध गायक मुहम्मद अता ख़ाँ और वहीद ख़ाँ।

बेगम अख़्तर का जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ। स्वयं उनके बैरिस्टर पति श्री इश्तियाक़ अहमद अब्बासी साहब के शब्दों में—"इनकी ये ख़ुशक़िस्मती थी कि घर की रखाइश और रहन-सहन पुराने ज़माने की थीं, इन्हें घर ही में तमीज़दारी और इख़लाक़ की तालीम मिली। वालिद सैयद असग़र हुसैन साहब एक अच्छे शायर थे; वालदा पढ़ी-लिखी तमीज़दार मिलनसार थीं, सारा शहर जिनकी सख़ावत से फ़ायदा उठाता था।" बालिका अख़्तरी को बचपन से ही संगीत से कुछ ऐसा लगाव था कि जहाँ गाना होता, छुप-छुपकर सुनती और नक़ल करती। घर वालों ने पहले तो इन्हें रोकना चाहा; पर समुद्र की उत्तुंग तरंगों को भला कौन रोक सकता था?

यदि कोई चेष्टा भी करता, तो शायद लहरों का वह सशक्त ज्वारभाटा उसे ही ले डूबता। उधर फ़ैज़ाबाद के हालात भी कुछ ऐसे हो गये थे कि उनकी वालदा उन्हें मजबूरन वहाँ से लेकर कलकत्ता और बिहार के बीच रहने लगीं। देव-दत्त प्रतिभा-संपन्न, किशोरी अख़्तरी ने फिर संगीत के जिस प्रथम सोपान पर पैर धरा, वहाँ से वह नीचे नहीं उतरी। स्वयं वाग्देवी ही प्रसन्न होकर, उस जिह्वा पर अपना चक्र आँक गई। अख़्तरी की रुचि का रुझान ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल की ही ओर अधिक था; किन्तु इतना वह जानती थी कि इस कहने में सरल संगीत के पोंहचे की पकड़ के लिए पहले उन्हें ख़याल गायकी की ही बाँह पकड़नी होगी। उस्ताद अतामुहम्मद ख़ाँ और वहीद ख़ाँ की देख-रेख में, उनकी विधिवत संगीत-शिक्षा आरम्भ हुई। केवल तेरह वर्ष की आयु में ही किशोर अख़्तरी ने कलकत्ते में पहली वार, 'बिहार रिलीफ़ फ़ंड' के एक जलसे में भाग लेकर कलकत्ते के गुणी संगीत-प्रेमियों को मुग्ध कर दिया। उस दिन दूर-दूर के संगीतज्ञ आमंत्रित थे, किन्तु सब जानते थे कि रिलीफ़ फ़ंड के जलसे में पैसा नहीं मिलेगा, इसी से किसी को बुख़ार आ गया और किसी को हो गया उदर-विकार। फिर भी अनुष्ठान की आभा, अख़्तरी ने एक क्षण के लिए भी म्लान नहीं होने दी। जिस सहज स्वाभाविकता से उस बित्ते भर की लड़की ने दम तोड़ते जलसे को, केवल अपने कंठ की जादुई फूँक से बचा लिया, उसे देखकर सब दंग रह गये।

कला-मर्मज्ञ कलकत्ता, किसी अनुभवी जौहरी की ही भाँति, कलाकार को पहचान, रत्न का उचित मूल्य आँकना भी जानता था। उन दिनों प्रसिद्ध पारसी नाटक कंपनियों में कोरैंथियन कम्पनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय था। वही कम्पनी, एक दिन अपना आकर्षक अनुबंध लेकर अख़्तरी के पास आई। उस समय के सबसे ख्याति-सम्पन्न नाटककार थे आग़ा हश्र कश्मीरी, जिन्हें 'नाटकों का ख़ुदा' और 'उर्दू का शेक्सपियर' कहा जाता था। उनके प्रसिद्ध नाटकों में से 'सैदे हवस', 'सफ़ेद ख़ून'

आदि बड़ी सफलता से खेले जा चुके थे। अख्तरी के लिए यह एक कठिन चुनौती थी। उधर उस्ताद कहते थे, "अख्तरी सोच लो, अगर तुमने इन नाटकों की दुनिया में क़दम रखा, तो फिर संगीत के दरवाज़े हमेशा-हमेशा के लिए तुम्हारे लिए बंद हो जायेंगे, जिस कंठ के होनहार बिरवा के चीकने पातों को, हमने अपनी तालीम से, इतनी मेहनत से सींचा है, वह एक दिन सूखकर, मुरझा जायेगा।" स्वयं अख्तरी भी जानती थी कि चटपटे गीत, फड़कते संवाद और जगह-जगह पर शेर दोहों की भीड़-भाड़ में वह एक दिन खोकर रह जायेगी, किन्तु दूसरी ओर सहज ही में उपलब्ध एक ऐसी लोकप्रियता उसकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ा रही थी, जिसका आकर्षण भी किसी अंश में, संगीत-क्षेत्र की ख्याति से कम नहीं था। बड़े-बड़े शहरों और क़स्बों में रंगीन इश्तहार—

'शीरी फ़रहाद', 'मेनका अप्सरा', जिसने मुनि विश्वामित्र की तपस्या भंग की, 'लैला मजनूँ', 'श्रवण कुमार', 'नूरेवतन' हवा में उड़ती परियाँ, पटाखा फटने पर उड़ता सिंहासन। इन चमत्कारिक दृश्यों का आकर्षण, उन्नीसवीं शताब्दी के लंदन के 'डूरी लेन' की साज-सज्जा से कुछ कम नहीं होता था। प्राय: नाटक मंगलाचरण से आरम्भ होता। साक्षात गंधर्व कन्या-सी अख्तरी के कंठ की मिठास, किसी भी पारसी नाटक कम्पनी के लिए, एक सुरक्षित बीमा बन सकती थी। इसी से उन्हें एकदम ही सात सौ रुपये मासिक वेतन का अनुबंध दिया गया। तब सोना शायद सोलह रुपये तोला था, इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि वह सात सौ तब किसी भी अंश में सात हज़ार से कम नहीं थे। अख्तरी ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और अपने अभिनय-जीवन के पहले नाटक आग़ा मुंशी दिल लिखित 'नई दुलहन' के पूर्वाभ्यास में जी-जान से जुट गई। छ: महीने के कठिन परिश्रम के पश्चात् एक दिन उन्होंने प्रसिद्ध नाटक-लेखक आग़ा महमूद को अपने ग्रैंड रिहर्सल पर आमंत्रित कर, उनकी राय जाननी चाही। आग़ा महमूद के 'बिल्व मंगल' ने उन्हें उन दिनों ख्याति के सर्वोच्च शिखर

पर आसीन कर दिया था। उस समय की दो प्रसिद्ध रंगमंच-अभिनेत्रियों शरीफ़ा और मिस गौहर को आग़ा महमूद अपने नाटकों में तर्जनी के आदेश से निर्देशित कर चुके थे। उन्होंने रिहर्सल देखा। अख़्तरी बड़ी आशा और उमंग से उनके पास आई। उसे अपनी अभिनय-कला पर पूर्ण विश्वास था, किन्तु उसके छः महीने के कठोर परिश्रम और साधना के दर्पण को आग़ा ने देखते ही देखते ज़मीन पर पटक कर चूर-चूर कर दिया। "इस ड्रामे में जान नहीं है अख़्तरी, मुश्किल से आठ दिन चलेगा।"

अख़्तरी का दिल डूब गया। जिस क्षेत्र में उसने अपने संगीत-गुरु को अप्रसन्न करके ही, चरण रखा था, वहाँ आकर भी क्या ऐसे मुँह की खानी होगी? न जाने कितनी रातों तक वह रोती रही, कभी सोचती, आज तक जिस उदार नाटक कम्पनी ने, घर बैठे ही उसे ऐसा ऊँचा वेतन दिया, वह ईमानदारी से लौटा दे और फिर कभी इस ओर मुड़कर भी न देखे। किन्तु फिर उसकी वालदा ने समझाया, "नहीं बेटी, तुमने मेहनत की है, इन्शा अल्ला तुम कामयाब रहोगी", और फिर वह रात, आज भी बेगम अख़्तर को भुलाये नहीं भूलती। सुनाने लगती हैं, तो उस गरिमामय चेहरे से, विस्मृति का कुहरा सहसा छँट जाता है। दोनों आँखें, नाक की लौंग के बड़े हीरे की कनी-सी ही दमकने लगती हैं।

करनानी उन दिनों कलकत्ते का मशहूर मारवाड़ी सेठ था, जिसकी मुट्ठी में शहर की बड़ी-बड़ी थियेट्रिकल कम्पनियाँ थीं, उस दिन मैं 'नई दुलहन' के लिए तैयार हो रही थी, तो वह भागता आया—"अख़्तरी हमारो तो हॉल छोटो पड़ गयो, आदमी पर आदमी मीनार बनावे है।" अख़्तरी की दीवानी दर्शकों की वह भीड़, तब क्या जानती थी कि स्वयं उनकी हृदय-साम्राज्ञी का हृदय किसी नन्हीं चिरैया के दिल-सा ही धड़क रहा है! क्या सफलता उसके चरण चूमेगी या आग़ा महमूद की निर्मम भविष्यवाणी, उसका उजाला भविष्य धो-पोंछकर बहा देगी? "मैं अगर यह जान जाती"—वे हँसकर कहने लगीं, "कि ऑडिऐंस में आग़ा हश्र और आग़ा महमूद भी बैठे

हैं तो शायद बेहोश होकर गिर ही पड़ती।" पर सहसा एक सच्चे कलाकार के जन्मजात आत्मविश्वास ने अख्तरी की झुकी गर्दन, सर्पगंधा के फन-सी ही उठा दी। स्नेहशीला जननी का गम्भीर कण्ठस्वर, उसके कानों में गूंज उठा—"इन्शा अल्ला तुम कामयाब रहोगी बेटी !" पूरे हॉल की बत्तियाँ बुझा दी गई, नेपथ्य से फेंकी जा रही तेज़ रोशनी का केन्द्रबिन्दु बनी थी किशोरी अख्तरी, अपूर्व रूपयौवन-मंडिता वह किन्नरी जैसे किसी शून्य अंतरिक्ष से अवतरित हो रही थी। मंगलाचरण के गायकों के बीच, उस नवोदिता तारिका को स्वयं प्रथम चरण गाते-गाते प्रवेश करना था—"जय जय जगदीश्वर···"

"मुझे आज भी याद है," उस शांत गम्भीर चेहरे पर सहसा स्मृति की झुर्रियाँ बिखर गयीं"—"उसकी बंदिश सोहनी में थी, बाँधा था प्रसिद्ध संगीत निर्देशक झंडे ख़ाँ ने, जिन्होने मुझे विधिवत गंडा भी बाँधा था। ये वे ही झंडे ख़ाँ थे, जिन्होंने एक ही रागिनी भैरवी में साठ ऐसी अनोखी धुनों की सृष्टि की थी, जिसकी एक धुन भी दूसरे से नहीं मिलती।"

अख्तरी गा रही थी और पूरे हॉल में एक-एक दर्शक, मौन-मुग्ध खड़ा था। ये वे ही पारखी दर्शक थे, जो असन्तुष्ट होने पर सीटियाँ बजा, कुर्सियाँ तोड़, अच्छे-से-अच्छे नाटक को भी बढ़ने से रोक सकते थे। ये वे ही दर्शक थे, जिन्होंने कभी नाटक में अपने प्रिय अभिनेता मास्टर निसार को न देख, ऐसा तूफ़ान खड़ा कर दिया था कि बीमार मास्टर निसार, खटिया पर उठा कर स्टेज पर लाए गये और उसी हालत में उन्हें गाना पड़ा था।

मंगलाचरण, सदा किसी पक्के राग की धुन ही में बाँधा जाता था, किन्तु इस बार पक्की गायकी का जैसा कौशलपूर्ण निर्वाह किशोरी अख़्तरी ने किया, वह स्वयं अपने में एक अनोखी मिसाल था। इस प्रकार पहले ही दिन लाख-लाख दर्शकों को अपना प्रशंसक बना, अख़्तरी ने अपने आँचल की गाँठ में बाँधकर रख दिया। एक साल तक यह नाटक कलकत्ते की कला-प्रिय भीड़ को बाँधता रहा। १९३६ में जब यही नाटक कम्पनी लखनऊ

में अपना दलबल लेकर आई तो अख्तरी नाटक-जगत की एक प्रतिष्ठित द्युतिमान तारिका बन जगमगा रही थी। इधर सुगायिका के रूप में उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी।

यदि उस दिन, उस गायिका को, निज़ाम हैदराबाद का आग्रहपूर्ण निमन्त्रण न मिलता, तो शायद आज की 'मलिकये-तरन्नुम' और 'मलक्रिये-तग़ज्ज़ुल' (ठुमरी साम्राज्ञी, एवं ग़ज़ल साम्राज्ञी) 'मलक्रिये-स्टेज' होतीं। उस बार कोरैंथियन कम्पनी, लखनऊ में अपना प्रसिद्ध नाटक 'लैला मजनूँ' लेकर आई थी। एक और नुमाइश के रंगीन लट्टू जगमगा रहे थे, दूसरी ओर कोरैंथियन कम्पनी का आलमगीर शामियाना लगता था, रंगीन कलकत्ता का चलता-फिरता संक्षिप्त संस्करण ही डेरा गाड़कर रम गया था। मजनूँ बनी थी अख्तरी और लैला थी प्रेमलता। अख्तरी के लिए अभी भी संगीत, उसका प्रथम प्रेम था और फिर हैदराबाद निज़ाम का निमन्त्रण भी उर्वशी को दिया गया स्वयं मधवा का निमन्त्रण था। अख्तरी ने कम्पनी से पन्द्रह दिन का अवकाश माँगा, पर कम्पनी के लिए अख्तरी के बिना पन्द्रह दिन क्या पन्द्रह मिनट का अवकाश भी घातक सिद्ध हो सकता था। उन्होंने उसका अनुरोध अस्वीकार कर दिया। ख्याति के तुंग आसन पर आसीना अख्तरी, कम्पनी के इस व्यवहार से क्षुब्ध हो उठी और उसने तत्काल अपना इस्तीफ़ा भेज दिया। यही अख्तरी के साफल्यमंडित अभिनय-जीवन का पटाक्षेप था। हैदराबाद में उन्हें संगीत ने एक बार फिर, बिछुड़ी संतान की भाँति गले से लगा लिया। अभूतपूर्व सम्मान एवं बहुमूल्य उपहारों से लदी वे लौटीं, तो उनका प्रत्यावर्तन, उन्हें उनके जीवन के सबसे सुखद मोड़ पर लाकर खड़ी कर गया। लखनऊ के एक समृद्ध परिवार में जन्मे, बैरिस्टर जनाब इश्तियाक़ अहमद अब्बासी, पद, कुल, व्यक्तित्व एवं आभिजात्य के ही धनी नहीं, हृदय के भी धनी थे। उनके मामा, चौधरी शफ़ीक्कुज़माँ साहब, संगीत-साहित्य कला के गुणी मर्मज्ञ थे। आये दिन, भैया गनपत राव, ज़ोहरा बाई, कलकत्ते की गौहर जान आदि संगीतज्ञ उनके अतिथि बनकर आते और संगीत के जलसे चलते रहते। अपनी ननिहाल से ही अब्बासी साहब को संगीत-रसिकता विरासत में मिली थी।

इसी से, जब अख्तरी जैसी प्रसिद्ध गायिका उनके शहर में आई, तो ये कैसे संभव था कि वे उनका नाटक न देखते? यही नहीं, राजा साहब नानपारा ने अपने एक सहभोज में, उनका परिचय अख्तरी से कराया और यही परिचय धीरे-धीरे घनिष्ठ मैत्री में परिणत हो गया। फिर एक दिन

वह भी आया, जब दोनों ने बहुत सोच-समझकर अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय ले लिया। संसार में कुछ रिश्ते ऐसे भी होते हैं, जिन्हें चाहने पर भी तुच्छ मानव न तोड़ सकता है, न जोड़ सकता है। जन्म-जन्मान्तर का यह रिश्ता, स्वयं प्रकृति-पुरुष ही जोड़ता है। यह रिश्ता भी ऐसा ही दुर्लभ रिश्ता था। लक्ष-लक्ष संगीत-अभिनय-प्रेमी हृदयों की एकछत्र साम्राज्ञी अख़्तरी अब केवल एक हृदय की निरंकुश साम्राज्ञी थी, वह भी एक ऐसे हृदय की, जिसका सिंहासन था हिरण्यमय। इस विवाह की पहले कड़ी आलोचना हुई। स्वयं अब्बासी साहब के शब्दों में—"छः महीने तक पूरे लखनऊ में हमारी शादी के चर्चे को छोड़ और कोई चर्चा ही नहीं था।" पर फिर बेगम ने, अपने निश्छल व्यवहार से, कड़े-से-कड़े शत्रु को भी मित्र बना लिया। किन्तु इस विजय के लिए उन्हें अपने जीवन की सबसे कठिन अग्नि-परीक्षा में अवतरित होना पड़ा। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "मैं अब घर की बहू थी। कहीं भी मेरा रिकार्ड बजता तो मैं सहम जाती। मेरी जो आवाज़, मेरी सबसे बड़ी पूँजी थी वही अब मुझे सहमा जाती। इनकी मुमानी, भावजें, चची सब सुनेंगी तो क्या कहेंगी ?" और फिर स्वयं पति ने ही उन्हें राय दी—"बिब्बो, अब तुम गाना भूल जाओ···।" एक पतिव्रता नारी की ही भाँति, उन्होंने क़ानूनी पति के इस आदेश को भी क़ानून मानकर ही ग्रहण कर लिया, पर धीरे-धीरे उन्हें लगा कि यदि उन्हें गाना छोड़ने के स्थान पर प्राण छोड़ने को कहा जाता तो शायद अधिक सहज होता। अतीत की वे प्रशस्तियाँ, नाटक के प्रेक्षाग्रह की दीवारें ढहा देने वाली प्रशंसकों की तालियों की गगनभेदी गड़गड़ाहट और संगीत की भूली-बिसरी धुनें··· पर दूसरे ही क्षण, कुल की लज्जा, प्रिय सखा, सचिव-से संवेदनशील पति की सीख, उन्हें यथार्थ की कठिन धारणी पर खींच लाती। इसी बीच, उन की वालदा अल्लाह को प्यारी हो गई—यह दूसरी चोट उन्हें तिलमिला गई। बाग़ में इनके दिलबहलाव के लिए एक छोटा-सा गार्डन हाउस बना दिया गया था, वहीं अपनी जननी की क़ब्र से लिपटी बेगम अख़्तर घंटों रोती रहतीं। उनके पति से उनका दुःख देखा नहीं गया। यह केवल जननी के वियोग की ही मर्मांतक व्यथा नहीं थी, यह उनके प्रिय सखा संगीत के वियोग की तड़प भी थी। एक दिन उन्होंने स्वयं ही अपनी प्राणों से प्रिय बिब्बो के लिए संगीत के बन्द द्वार खोल दिये।

···शर्तें केवल दो थीं—

एक : श्रोताओं के सम्मुख वे नहीं गायेंगी।

दो : रिकार्डिंग का जो भी पारिश्रमिक मिले, उसे स्वयं चाहें जैसे भी खर्च करें, घर के खर्चे के लिए, एक आदर्श पत्नी की भाँति, उन्हें पति की ही आश्रिता रहना होगा।

पहली शर्त निश्चय ही कठिन थी। तब विस्मृति के गूढ़ मंडप में रहने पर भी, उनके प्रशंसक उस मायावी कंठ के जादू को नहीं भूले थे। ख़बर पाते ही 'आकाशवाणी' के श्री मल्होत्रा उन्हें सादर लिवाने आ गये। 'आप कार में जायेंगी, रिकार्डिंग होते ही कार आपको वापिस पहुँचा देगी।' ऐसा ही हुआ, सात वर्षों तक कंठ-कंटक से पीड़िता सारिका, एक बार फिर चहक उठी।

"जब टेप मुझे सुनाया गया," वे कहने लगीं तो एक क्षण के लिए वह स्मृति उन्हें विचलित-सी कर गई, "मेरे आँसू थमते ही नहीं थे, गाना था— 'अब के सावन घर आ जा'।"

तीसरे ही दिन नेशनल प्रोग्राम का निमन्त्रण मिला, किन्तु वहाँ आमन्त्रित श्रोताओं के सम्मुख गाना अनिवार्य था, एक बार फिर आकाशवाणी ने हथियार डाल दिये। इस बार भी, एकान्त कक्ष में ही उनकी रिकार्डिंग हुई।

पर अख़बार वाले कब चूकते, उन्हें आने नहीं दिया गया, लिहाज़ा उन्होंने भी बदला ले लिया यह सुर्ख़ी छापकर—'बेगम फेल्स टु इम्प्रेस' (बेगम का गायन प्रभावित करने में असमर्थ रहा)।

स्वयं उनकी दृष्टि में उन्होंने अपने जीवन का सबसे उत्कृष्ट प्रदर्शन किया था। "यह सब आपने किया," इस बार, उन्होंने अख़बार अब्बासी साहब के सामने धर दिया "मैं अगर सबके सामने गाती, तो यह सब बकवास कभी नहीं छपती।"

ठीक ही तो कह रह थीं वे। डाल पर चहकती बुलबुल और पिंजरे में बन्द चहकती बुलबुल के तराने क्या कभी एक-से हो सकते थे? संसार का कौन-सा कलाकार भला नहीं चाहता कि उसकी कला सराही जाये? अनाघ्रात पुष्प की ही भाँति, बिना सराही गयी कला भी, एक न एक दिन मुरझाकर अरण्य ही में झर जाती है। इस बार फिर उनके, उदार सहचर ने अपना पहला अंकुश हटा लिया। कभी जिस कलकत्ते की महानगरी को किशोरी अख़्तरी ने, अपने किशोर कंठ की माधुरी से जीत लिया था, आज उसी कलकत्ते को उन्होंने एक बार फिर अपने प्रौढ़ कंठ के मदालस माधुर्य से विजित कर लिया। कलकत्ता कान्फ्रैंस में ए० कानन, मीरा चटर्जी, ग़ुलाम

अली ख़ाँ और विलायत ख़ाँ के साथ, प्रमुख आकर्षण थीं बेगम अख़्तर, जिनके मादक कंठ की मिठास, किसी समृद्ध सेलर में यत्न से संचित विदेशी पुराने आसव की ही भाँति, समय के साथ-साथ और भी महिमामय बन उठी थी।

दूसरी शर्त का पालन, वे आज भी बड़ी निष्ठा से करती चली आ रही हैं। पारिश्रमिक का चेक देखते ही देखते इधर-उधर बँट जाता है। लोग उस उदार महिला की दुर्बलता को पहचान गये हैं, किसी की बिटिया का ब्याह है तो किसी के बेटे का मर्ज़। "कभी-कभी तो रेडियो स्टेशन के दरवाज़े तक पहुँचने से पहले ही, किसी से रुपया ले बाँट आती हैं।" अब्बासी साहब कहने लगे, "घर लौटने के लिए भी कभी तार कर घर से रुपया मँगवा लेती हैं।" यह शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि सांस्कृतिक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त बेगम अख़्तर, स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "मैं स्टेज ही तक आर्टिस्ट हूँ, घर में हूँ सिर्फ़ बीवी।"

वे एक बीवी ही नहीं, एक आदर्श संस्कारशील गृहिणी है, जिनकी निष्कपट हँसी, सरल सौजन्य पल-भर के पाहुने को सदा-सदा के लिए बाँध कर रख देता है। मुझसे यदि कोई महान् 'मलिकये-तरन्नुम' की सदाबहार मीठी आवाज़ का राज़ पूछे, तो मैं निश्चित रूप से यह संक्षिप्त उत्तर दूँगी— "उनका सुखी दाम्पत्य जीवन।" विदा लेते समय तो बड़े साहस से मैंने अपना अंतिम प्रश्न पूछा, "अब्बासी साहब, आपने कहा था कुछ रिश्वत दूँ तो एक ऐसी बात बतायेंगे जो कभी किसी को नहीं बताई।" बेगम अख़्तर ज़ोर से हँसीं—"बताइये ना ऐसा कोई दिलचस्प वाक़या···।" मैंने फिर उन्हें उकसाया—"आप किसी गाने का ज़िक्र कर रहे थे ना, जिसे सुनकर आपने अपनी शादी का अन्तिम निर्णय लिया था···।"

सहसा उस प्रवीण वयस्क के गम्भीर चेहरे की सौम्य सुदर्शन कांति के बीच, मेरा अबीर-सा छिटका गया। रुक-रुककर उन्होंने उस ऐतिहासिक पंक्ति को दुहराया—

'कोयलिया मत कर पुकार
करेजुवा लागे कटार'

सच कहती हूँ, अब्बासी साहब की आवाज़, मुझे उस दिन बेगम अख़्तर के लाँग-प्लेयिंग रिकार्ड से भी, कहीं अधिक मीठी लगी, कहीं अधिक दिलकश !

